एप्रिल फूल

[बारह हास्यरस की कहानियों का संग्रह]

संग्रहकर्ता

श्री नारायण श्यामराव चिताम्बरे, बी० ए०

प्रकाशक

शिवाजी प्रकाशन-मन्दिर,

लखनऊ।

प्रथम बार } जुलाई १९४५ { मूल्य
१००० } { ३)

प्रकाशक :
राधाबाई पंडित,
शिवाजी प्रकाशन-मन्दिर,
लखनऊ ।

एप्रिल फूल

[कहानी संग्रह]

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

प्रकाशक की ओर से

अंग्रेजी 'विश्वभाषा' कैसे बन सकी ! इसका रहस्य उसे पुष्ट और समृद्धशाली बनाने का सारा श्रेय वहाँ के साहित्य-स्रष्टाओं को है। किसी भाषा को 'विश्वभाषा' बनाना हँसी-खेल नहीं है। उसके लिये त्याग, तपस्या और परिश्रम की आवश्यकता है। जब तक ये तीन बातें नहीं होंगी किसी भी भाषा की उन्नति असम्भव है। यह अब निर्विवाद है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा है, अतएव उसे सच्चे अर्थ में राष्ट्रभाषा बनाने के लिये उसे पुष्ट और समृद्धशाली बनाने का महान् उत्तरदायित्व हिन्दी के साहित्यकारों पर है। दुर्भाग्यवश अपनी परतंत्रता के इस युग में चाहे हम हिन्दी मन्दिर को सम्पूर्ण रूप से सजाने में असमर्थ हों फिर भी जितना बन सके उसको सजाते रहना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

सबसे प्रथम भारत का प्रान्तीय साहित्य हिन्दी में जितना बन सके लाया जाना आवश्यक है। भारत के प्रान्तीय साहित्य की उत्तमोत्तम कहानियाँ, इतिहास, नाटक, उपन्यास, शास्त्रीय निबन्ध सभी अनुवादित प्रकाशित किये जाने का महान् कार्य अभी जितना चाहिये उतना और जैसा चाहिये वैसा नहीं हो पाया है। इस दिशा में किसी ने प्रयत्न नहीं किये हों सो बात नहीं है फिर भी जितना कुछ हुआ है उससे कहीं अधिक होने की आवश्यकता है।

हमारा ध्यान इस ओर गया है और हिन्दी साहित्य के अनुवाद के रिक्त अंश की पूर्ति करने का हमने पवित्र संकल्प तथा दृढ़ निश्चय किया है।

यह एक कटु सत्य है कि हिन्दी में हास्यरस का उन्नत साहित्य नहीं के बराबर है अतएव सबसे प्रथम हमने इस ओर ही कदम उठाया

है। इसके लिये हमने प्रथम मराठी प्रान्त को चुना है। मराठी साहित्य से हमने इस समय केवल बारह मोती चुने हैं जो हिन्दी साहित्य प्रेमियों के सम्मुख प्रस्तुत हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि ये असली मोती अपनी उज्ज्वल चमक से पाठकों को अवश्य ही मोहित कर लेंगे।

यदि हमारे इस प्रथम प्रयत्न और साहसपूर्ण प्रयास का उचित समादर किया गया तो भविष्य में और भी बड़ा कदम उठाने का विचार रखते हैं।

अंत में हम उन महाराष्ट्रीय लेखकों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि जिन्होंने उदार अन्तःकरण से अपनी कहानियों का अनुवाद करने की अनुमति प्रदान की। श्री० शंकरराव जी किर्लोस्कर के भी हम आभारी हैं जिन्होंने कि अपने सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'किर्लोस्कर' में प्रकाशित इन कहानियों के अनुवाद की स्वीकृति से हमें उपकृत किया।

हम श्री० नारायण श्यामराव चिताम्बरे, बी० ए० को भी धन्य-वाद दिये बिना नहीं रह सकते जिनके अति परिश्रम से इन कहानियों का सफल अनुवाद पाठकों के सामने है। हमें विश्वास है कि वे भविष्य में भी हमें इस प्रकार का सहयोग देते रहेंगे।

पहली एप्रिल,
१९४५, लखनऊ।

प्रकाशक

विषय-सूची

एप्रिल फूल

हम अपने काम से कहीं परदेश जाने वाले हों, और यह बात पड़ोसियों, मित्रों और जान-पहिचान वालों को मालूम हो जाय तो सच जानिये, पत्रों के ढेर, सन्देशों की भरमार, साथ में ले जाने के लिये मनुष्यों का दल, गठरियों के बोझ आदि से अलंकृत कर वे हमें कितना परेशान करते और किस प्रकार पागल बना देते हैं, इसका पूरा अनुभव मैंने ३१ मार्च को प्रातःकाल किया। सुख की गहरी मीठी नींद में मैं बेसुध था। किसी ने कुंडी खटखटाई। अनिच्छापूर्वक मैं उठा, अलसाये चेहरे से द्वार खोलकर देखता हूँ तो हँसमुख माणिक शिरोदकर सामने खड़ी मुस्करा रही हैं। आज सवेरे ही सवेरे वह क्यों पधारी हैं, मैं पूछना ही चाहता था कि वह बोलीं—'तुम कल बम्बई जा रहे हो न!'

'किसने कहा तुम्हें?'

'परसों तुम्हीं ने तो कहा था।'

'हाँ, हाँ, जा रहा हूँ। क्यों?'

'मैं भी चल रही हूँ तुम्हारे साथ।'

'स्वर्ण संयोग! किन्तु वहाँ कोई समारोह तो है नहीं।'

'न हो समारोह। मुझे जाना ही था अपने गाने का रिकार्ड भरवाने। जब माँ ने कहा कि 'वह जा रहा है तो अनायास साथ हो गया तुम्हें, उसी के साथ चली जा' यही कहने आई हूँ। तुम्हें कुछ कष्ट तो न होगा?'

'कष्ट किस बात का है! तुम क्या मेरे सिर पर बैठकर चलोगी?'

'अच्छा.........।'

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही—ठहरो, जलपान करती जाओ

आदि कहने के पूर्व ही थपथप सीढ़ियाँ उतरकर वह नीचे भी पहुँच गई थी। किन्तु अभी वह साइकिल पर नहीं बैठी होगी ऐसा विचार आते ही मैंने छज्जे में जाकर उसे पुकारा। वास्तव में वह अभी साइकिल पर नहीं चढ़ी थी। मेरी पुकार सुन एक बार मेरी ओर देख वह शरारत से हँसी और साइकिल पर चढ़कर भागी। उसकी वह शरारतभरी हँसी मेरे कानों में गूँजती ही रही। एक मिनट मैं उस हँसी पर विचार करता रहा, किन्तु उस हँसी का अर्थ मेरी समझ में न आया और उसी क्षण मेरे मस्तिष्क में एक कल्पना उद्‌धृत हुई और मैं अपने आप जोर से हँस पड़ा।

माणिक के जाने के बाद मैंने द्वार बन्द कर लिया। अपने मन की उस कल्पना का मन ही मन आस्वाद लेता आराम कुर्सी पर लेटा रहा। पाँच मिनट भी मैं उस कल्पना का आनन्द न ले सका कि द्वार की कुंडी फिर जोर से खटकी। मैंने समझा माणिक ही फिर लौट-कर आई है। इस आशा से मैंने द्वार खोला तो सामने मेरे पिताजी के परम मित्र बलवंतराव आपटे को द्वार पर खड़ा पाया। द्वार खुलते ही वे अन्दर घुसते ही चले आये और पूछने लगे—'दादा घर में हैं न ?'

'नहीं जी, वे तो अभी बाहर गये हैं।' उनसे पिंड छुड़ाने की गरज से मैंने झूठ ही कह दिया। वे लौटकर जाने लगे। द्वार के समीप पहुँचे ही होंगे कि मैंने सहज पूछा—'कुछ काम है उनसे ?'

'वैसे कुछ काम नहीं है। अरे हाँ, ठीक याद आई !' द्वार तक गया हुआ बूढ़ा फिर लौट आया और कहने लगा—'अरे, मैं तो भूल ही गया था—कल तुम बम्बई जा रहे हो न !'

'किसने कहा आपसे ?'

'परसों तुम्हारे पिताजी कह रहे थे। उन्हीं से मुझे मालूम हुआ।'

'ऐसा ! हाँ, मैं जा तो रहा हूँ।'

'मेरा एक जरा सा काम है। हमारी श्रीमतीजी बम्बई अपने

भाई के घर जाना चाहती हैं। कई वर्ष हो गये, वह गई नहीं हैं। मैंने भी कहा, जाओ हो आओ, किन्तु कोई साथी नहीं मिल रहा था। वैसे वह कई बार बम्बई हो आई हैं, किन्तु आज-कल की रेल-यात्रा कितनी संकटपूर्ण है तब सोचा किसी के साथ भेजना ही उपयुक्त होगा। सुना तू जा रहा है, कितनी खुशी हुई मुझे यह सुनकर—हाँ, तो तेरे साथ ही भेज रहा हूँ उसे, क्यों ?'

'अवश्य, अवश्य, जरूर भेजिये उन्हें मेरे साथ। किन्तु देखिये कल ठीक एक बजे उन्हें स्टेशन पर भेज दीजिए।'

'वाह, अरे ट्रेन साढ़े तीन बजे छूटती है और तू एक बजे का कह रहा है।'

'आपका कहना सही है, किन्तु स्त्रियाँ बड़ी लापरवाह होती हैं। आप एक का कहेंगे तब कहीं वे तीन बजे ठीक समय पर स्टेशन पहुँच सकेंगी।'

वे जाने को ही थे कि पिताजी एकदम अन्दर आकर बोले—'कहिये बलवन्तराव जी, कब आये ?'

'बड़ी देर हुई—इसने कहा कि तुम घर नहीं हो, तब लौटकर जा रहा था।' वे बेतकल्लुफी के साथ एक आराम कुर्सी पर बैठते हुए बोले।

'किसने कहा, मैं घर में नहीं हूँ, बड़ा शैतान है।'

मेरा यहाँ ठहरना अब ठीक नहीं है, यह सोच मैं वहाँ से खिसक गया और उन दोनों मित्रों में बातों का चरखा जो चला कि चलता ही रहा।

(२)

साइकिल पर मैं चला जा रहा था। सामने माणिक का फिडिल बजाकर साथ करने वाला विट्ठल चोरघोड़े आ रहा था। मैंने देखा, उसने साइकिल धीमी कर दी है। मेरे मन में एक शंका हुई कि कहीं

यह भी किसी को बम्बई पहुँचा देने के लिये तो नहीं कह रहा है। इतने में ही वह साइकिल से उतर पड़ा और बोला—'भई वाह, खूब मिले। मैं तो तुम्हारे ही घर जा रहा था। बम्बई जा रहे हो न?'

'हाँ।'

'अभी माणिक मिली थी। वह कह रही थी कि उसके साथ तुम भी बम्बई जा रहे हो।'

'और क्या कह रही थी माणिक?'

'बस यही और कुछ नहीं।' उसने कहा। 'मेरा भी एक काम है, करोगे?'

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं, ऐसे समय पर यदि हम एक दूसरे की सहायता न करें तो हमारी मित्रता ही क्या!' मैंने जहाँ तक हो सका गम्भीरता को अपनाते हुए कहा।

विट्ठल ने हँसकर कहा—'मेरी बहिन को तो तुम जानते ही हो, उसे दिखाने......और भी न......उसका विवाह होनेवाला है—भावी पति को दिखाने...'

'हाँ, हाँ, ठीक......किन्तु मैं अकेला......।'

'नहीं जी, वैसे मेरी माँ जा रही है उसके साथ। तुम्हारे साथ भेजने से और भी निश्चित हो जाऊँगा मैं। तुम जानते ही हो आजकल गुंडों की भरमार है, जिधर देखो उधर गुंडों ने उपद्रव मचा रखा है।'

मानो मैं राक्षस था, जो गुंडों से उनकी रक्षा कर सकता किन्तु लोगों की समझ है उसे क्या किया जाय?

(२)

विट्ठल से वादा कर मैं आगे बढ़ा। मैं नहीं चाहता था कि मुझे अब कोई रास्ते में छेड़े। अतएव मैं अपने परम मित्र बंदोपंत के यहां सीधा चला गया। बंदोपंत कुम्भकर्ण के वंशज होने के कारण अभीतक गद्दी और चादर का उपभोग कर रहे थे। मैंने आवाज लगाई

तो उनींदी आँखें अधखुली कर मेरी ओर देख बोले—'क्यों, कैसे आये भाई ?'

'तुम्हें जगाने।'

'मुझे जगाने! यह समय क्या किसी के घर जाने का होता है ?' फिर बोले—'देख भाई, नींद में खलल पैदा करने वाले मित्रों को मैं जरा भी पसंद नहीं करता।'

'अरे भाई, नौ बज रहे हैं।'

'ऊँः यानी पहले के आठ ही तो है। सरकार भी अजीब है, क्या मिला उसे एक घंटा समय बढ़ाने से!'

'हाँ, और कुछ ?'

'और—और अव्वल तो नींद लगती नहीं है। इधर माताजी बम्बई जाने को कह रही हैं। पिताजी से मिलने की इच्छा हुई है उन्हें। तब हमें चूल्हे की आराधना करनी होगी। किन्तु साथी न मिलने से उनकी गाड़ी रुक गई है।'

'साथी के लिये रुकने की क्या आवश्यकता है। एक नहीं हजार। साथियों का क्या टोटा—ट्रेन में तो कितने ही साथी मिल जाते हैं। तुम्हीं चले जाओ माताजी के साथ।'

'मैं चला भी जाता किन्तु मेरे एंगेजमेन्टस् जो हैं, उन्हें छोड़कर जाने को जी नहीं चाहता। अकेली जाना वे चाहती नहीं हैं। गुंडों का डर लगता है उन्हें। अजीब उलझन है। हमारा नसीब ही उलटा है और क्या ?' बंदोपंत फिर पलँग पर लेट गये और लेटे-लेटे ही बोले—'देखो मित्र, तुम बम्बई जा सकोगे ?'

'हाँ हाँ, वैसे भी तो मैं कल जा ही रहा हूँ। आई विल गो टुमारो हियर।'

मैं अचानक कह गया और इसे सुन बंदोपंत उछलकर उठ बैठा और चिल्लाया—'माँ माँ, ओ माँ—'

'क्या हुआ, क्यों चिल्ला रहा है ? अरे ! अभी तक पड़ा सो रहा है, आलसी कहीं का !' माँ ने आकर कहा। वंदोपंत बोला—'माँ तुम बम्बई जाना चाहती हो न, तो यह जीव जा रहा है, बम्बई तुम इसी के साथ चली जाओ माँ।'

और निश्चित हुआ कि वंदोपंत महाशय की माताजी मेरे साथ अपनी सारी सजीव सृष्टि के साथ बम्बई चलेंगी। मैंने बाहर रास्ते में मन ही मन हिसाब लगाया, माणिक सहित कुल १४ नग मेरे साथ बम्बई जायेंगे ओफ ओह !

अभी मैं घर जाना नहीं चाहता था। मेरा पक्का विश्वास था कि अभी मेरे पिताजी और बलवंतराव आपटे की गप्पों का चरखा चल ही रहा होगा। चरखा प्रतियोगिता भी कहीं इतनी जल्दी समाप्त हो सकती है ? अर्थात् अभी मेरे लिए साइकिल पर इधर-उधर भटकने के सिवा दूसरा क्या उपाय था ? बीच ही में एक बार मैं माणिक के घर के सामने से होकर निकला। वह छज्जे में खड़ी थी। विट्ठल चोरघोड़े को मेरे बम्बई जाने के बारे में सूचना देने के कारण मुझे उस पर क्रोध आ रहा था, इसलिए मैं उससे बोलना भी नहीं चाहता था।

मैं उधर न देखने का बहाना कर आगे बढ़ा, किन्तु वह कब मानने वाली थी। उसने जो पुकारना आरम्भ किया तो मुझे रुकना ही पड़ा। ऊपर जाते ही मैंने क्रोध में कहा—'जब मैंने तुम्हें उस समय पुकारा तो तुम हँसती हुई चली आईं। किस बात की खुशी हुई है तुम्हें जो तुम बार-बार हँसती रहती हो ! मुझे तो तुम पर क्रोध आ रहा है।'

'ऐसा !' एक भृकुटि किंचित् वक्र करके, गर्दन को जरा टेढ़ी कर उसने कहा।

'इस प्रकार के तुम्हारे बर्ताव का क्या मतलब है ? अभी विट्ठल को तुमने चकमा दिया कि मैं तुम्हें पहुँचाने बम्बई जा रहा हूँ। वास्तव

में तुम्हीं मेरे साथ बम्बई चल रही हो।'

माणिक एक बार ठठाकर हँस पड़ी और बोली—'अच्छा, यह बात है! इसीलिये नाराज हुए हैं श्रीमान्!'

'नाराज न होऊँ तो क्या खुश होऊँ? उस पर हँस भी रही हो। वह विट्ठल मेरे सिर पड़ा उसकी बहिन को बम्बई ले जाना होगा।'

'तो हर्ज ही क्या है। सिर पर थोड़े ही बैठेगी वह तुम्हारे!'

'सिर पर तो नहीं बैठेगी वह, पर—हाँ, यह बताओ और कहीं तो विज्ञापन नहीं दिया न मेरे बम्बई जाने के सम्बन्ध में?'

'नहीं, नहीं मैं क्या ऐसी पागल हूँ! हाँ, केवल दादा मोदक को अवश्य ही मैंने कहा है। उसकी विधवा काकी अपनी देवरानी के साथ बम्बई जाने वाली है—दो दिन दादर में रह कर सूरत जायगी वह।'

माणिक फिर एक बार हँसी! उस हँसी में शरारत कूट-कूट कर भरी थी। उसे कोहनी तक हाथ जोड़ मैं सीधा सड़क पर आ गया। पैडिल पर पैर रख मैं अब सीट पर बैठना ही चाहता था कि दूर के रिश्ते के एक काका अप्पाराव दिखाई दिये। अब साइकिल पर बैठना असंभव था। काका थे जमदग्नि के अवतार! मैं तो शुरूआत में वह मार्ग ही भूल गया था जिस पर चलकर काका के प्रेम को पा सकता। किन्तु वे भतीजे के प्रेम को छोड़ने वाले प्राणी न थे। उन्होंने कई बार, कई प्रकार से कई इतिहासों के आधार पर काका-भतीजे के प्रेम का बोध मुझे कराया था। उन्हें टालकर जाना एक महान् अपराध था, अतएव ठहरना ही पड़ा। काका-पुराण आरम्भ हुआ और वह समाप्त होने का समय निकट भविष्य में दिखाई न देने से मैंने उसकी परिसमाप्ति के लिये उपयुक्त योजना की। बोला—'काकी की तबियत अब कैसी है?'

'हाँ, अब तो वैसे ठीक है, किन्तु अभी पूरा आराम नहीं हुआ

है—सो चार दिन के लिये बम्बई भेजने का विचार है उसके काका के घर। बहुत दिनों से गई भी नहीं है उनके घर। दूसरे हवा पानी भी बदल जायगा किन्तु कोई साथी नहीं मिल रहा है। मैं जाऊँ तो छुट्टी नहीं मिल रही है।'

'काकी अकेली ही जा रही है क्या ?'

'नहीं, उसके साथ कान्ता भी जायेगी, चंदू बंडू भी जायेंगे। क्यों, तू जा रहा है बम्बई ?'

'हाँ, कल जा रहा हूँ—मेरे साथ भेजना चाहें तो भेज दीजिये।'

काका महोदय एकदम राजी हो गये। मेरी हँसी का प्रवाह रोके नहीं रुकता था। सभी की एक ही शिकायत, गुंडों का डर और साथी का अभाव।

(४)

मेरे एक मामा थे रायसाहब तिलक। पैसा तो उनके पास बहुत था, किन्तु मन बहुत ही छोटा। कंजूसी की जीती-जागती प्रतिमा थे ये रायसाहब तिलक। उनके सन्दूक से पैसा तभी निकलता जब वह बिलकुल चिकना हो जाता। इसीलिये वे हमारे गाँव में चिकने मामा के नाम से मशहूर थे। हाँ, स्वभाव उनका बहुत मीठा था। शब्द-शब्द में मिठास भरी रहती थी। किन्तु किसी को अपने घर बुलाना उन्होंने स्वप्न में भी न जाना था। चिकने मामा की चिकनी मामी तो चिकनेपन में अपना सानी नहीं रखती थी। मामा को भी चंदन लगाना उन्हीं का काम था। मामा जब कभी दो चिकने पैसे भाजी के लिये मामी को उदारतापूर्वक प्रदान करते तो मामी उसमें से एक पैसा कमीशन में रख लेती, और एक ही पैसे की भाजी मँगवाती तथा उस कमी की पूर्ति बिना पैसे के प्राप्त होनेवाले पानी से कर देती थीं। सो ऐसे हैं ये चिकने मामा और ऐसी हैं ये चिकनी मामी! बहुत

दिन से उनके घर नहीं गया था, अतएव सोचा—चलो मामा के घर चला जाय, देखें किसी को बम्बई जाना हो या चिट्ठी-पत्री पहुँचानी हो, या एकाध मिठाई की पोटली बम्बई पहुँचानी हो।

घर में घुसते ही देखा चिकनी मामी किसी पड़ोसिन से बातें करने में दीन-दुनिया भूल गई थीं। मुझे देखते ही उनका प्रेम सहस्र धारा में बह उठा। प्रेम का उफान इतना अधिक था कि मैं भी एक बार स्तम्भित रह गया। वे बोलीं—'क्यों रे! आज इधर कैसे रास्ता भूला? कितने दिनों में हम गरीबों की याद आई तुझे। आ, आ बैठ।' फिर पड़ोसिन की ओर देखकर बोलीं—'जब यह छोटा था तब हमारे यहाँ ही चौबीस घंटे बना रहता था बहिन! दिन भर यहीं खेलता रहता, बोलता रहता, मेरे पास बैठा रहता। किन्तु अब इधर महीनों गुजर जाते हैं आता ही नहीं है। मैंने और उन्होंने भी कई बार बुलाया, किन्तु कभी तीज-त्योहार को भी नहीं आता है। तुम्हीं बताओ अब कहाँ तक बुलाया जाय—बुलाने की भी हद हो गई।'

पड़ोसिन ने इस प्रकार मुँह बिचकाया और गर्दन को कुछ ऐसा झटका दिया कि मैं भी ठंडा हो गया। मुझे लगा इस चिकनी मामी के मस्तक पर गंगाजल रखकर सच बोलने को बाध्य किया जाय। फिर मन ही मन सोचा, जाने भी दो। शक्कर पर कन्ट्रोल होते हुए भी वे उदारतापूर्वक शब्दों में जब इतनी मिठास घोल रही हैं तब मुझे उनका अभिनन्दन कर धन्यवाद देना चाहिये। और जब मैं मामा के कमरे में गया तो मामा महोदय अपने एक जीर्ण-शीर्ण गमछे में पेवन्द लगा रहे थे। उनका यह गमछा-प्रेम देख मेरे हृदय में काव्य-स्फूर्ति का निर्माण हुआ और इस गमछा-प्रेम पर कविता लिखने का मन ही मन मैंने निश्चय कर लिया। चिकने मामा में एक बात विशेष थी। वे एक साथ दो काम करते थे। इस प्रकार समय का दुरुपयोग न होकर दु-उपयोग हो जाता था। इधर तो वे गमछे को पेवन्द लगा रहे थे, उधर

टाइम्स सम्मुख रख उसमें दी गई पहेली बुझा रहे थे। मुझे देखते ही उनकी समाधि भंग हो गई। बोले—'कौन? ओहो! माधवराव! आज बहुत दिनों में हम गरीबों की सुध ली। अच्छा, बैठो। हाँ आजकल क्या कर रहे हो तुम?'

'एक कम्पनी का चलता फिरता एजेन्ट हूँ। मेरा आज-कल बम्बई हमेशा आना-जाना बना रहता है।' मैंने रोब के साथ यही एक बात जड़ दी।

चिकने मामा खुश होकर बोले—'ऐसा! वाह वाह, बहुत सुन्दर वाह क्या कहना है, खूब! बहुत खूब!'

'कल फिर जा रहा हूँ बम्बई—'

'ओ, हो' मामा उछल पड़े और मेरी पीठ पर एक थपकी लगाकर बोले—'इसे कहते हैं संयोग! देख माधव, मेरा एक काम करना होगा तुझे। एक पत्र अभी लिखे देता हूँ वह पत्र हिन्दू कालोनी में देना होगा समझे! डाक से ही भेज रहा था मैं, किन्तु आजकल लिफाफे के छः पैसे खर्च करने में जी दुखता है और तू बिलकुल घर का ही बंबई जा रहा है।'

और जब लिफाफा चार पैसे में था तब ये महाशय कितने पत्र लिखते होंगे इसे तो वे ही जानें। पाँच दस मिनट के अनन्तर उन्होंने मुझे एक बन्द लिफाफा लाकर दिया और फिर शब्दों में गुड़ घोलकर (कन्ट्रोल के कारण शक्कर का अभाव होने से) बोले—'चाय बनवाऊँ, लेगा? वैसे घर से तो तू पीकर ही चला होगा।'

'नहीं, नहीं, मामाजी चाय तो मैं कभी पीता ही नहीं हूँ।'

'शाबास, शाबास, स्पिरिट हो तो ऐसी। आजकल के नवयुवकों में ऐसे नवयुवक बहुत कम मिलेंगे जो चाय न पीते हों, और अपने नियम के पक्के हों, फिर अब क्या खातिर की जाय तेरी? बिना कुछ खाये-पीये ही जायगा?'

मैंने भी शरारत से कहा—'फिर भी मैं काफी पीता हूँ।'

बुड्ढा पेंच में आ गया। युद्ध के कारण काफी महँगी थी, शक्कर मिलती नहीं थी, दूध का अभाव था। स्टोव के लिये कैरोसिन और स्प्रीट का प्रश्न सामने मुँह बाये खड़ा था। मामा की इज्जत जाने का समय आ उपस्थित हुआ, किन्तु वे कम नहीं थे। बोले—'काफी पीते हो ? अरे रे, हम चाय पीने वालों के घर में काफी का मिलना नितान्त असम्भव है।'

इतना कहकर मामा एकदम अन्दर चले गये। मैंने सोचा, काफी नहीं तो कुछ और जलपान लेने के लिये अन्दर गये हैं मेरे ये पिताजी के साले। किन्तु मामा के बजाय मामी साहिबा बाहर पधारीं और बोलीं—'सुना है तू बम्बई जा रहा है ?'

'हाँ, मामी।'

'तो हमारी कुसुम के लिये थोड़ी मिठाई लेता जायगा क्या ? वैसे पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। ले ही जायगा तू।'

वे अन्दर गईं और दो मिनट में ही बाहर आकर एक छोटा डिब्बा, जिसमें दो छोटे-छोटे बच्चों के लिये मिठाई रह सकेगी मेरे हाथ में दे दिया। मेरे मन में उनके प्रति जो आदर था वह दुगना हो गया। आप ही सोचिये चार संतान वाली अपनी लाड़ली पुत्री महाशया कुसुम देवी को इतनी अधिक मिठाई भेजना, मातृ-प्रेम की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है। और मेरे लिये इस युद्धजन्य महँगाई में भी अपने शब्दों में गुड़ और शक्कर क्या कम मिलाई थी उन्होंने ! मैं तो उनकी इस उदारता पर गद्गद् हो उठा।

मैं जाने लगा। मामीजी के मन में किस शंका का उदय हुआ कौन जाने। वे अपना प्रचंड स्थूल देह संभालती मेरे पीछे दरवाजे तक आईं और करीब-करीब मेरे हाथ से डिब्बा छिनती हुई बोलीं—'देखा अभी कितना बड़ा घोटाला हुआ जाता था ! गप्पू का खाने का डिब्बा गलती से दे रही थी तुझे। रो-रो कर आसमान सिर पर उठा लिया

होता उसने कल मदरसे जाते समय। ठहर कागज में बाँधे देती हूँ मिठाई।'

अब मुझ से नहीं रहा गया। मैंने कहा—'किन्तु मामी, पीतल महँगा है फिर भी तुम्हारा डिब्बा पचाने की मेरी नियत कभी नहीं होगी।'

'अरे, यह बात नहीं है रे! और तू रख भी लेता यह डिब्बा तो गैर थोड़े ही है तू, किन्तु वह डिब्बा गप्पू का है।'

कंजूस मनुष्य कितने निर्लज्ज होते हैं। मैं सोचने लगा। मैंने सोचा—उनका ख़याल भी ठीक ही था। मान लो, मैं उनका डिब्बा न भी रखता, कहीं उनकी लाड़ली बेटी कुसुम ही रख लेती उसे तो? वह भी तो उन्हीं की ही लड़की थी। "खग जाने खग ही की भाषा" इसे थोड़ा बदल कर "चोर जाने चोर ही की भाषा" हो सकता है। वैसी मिठाई और उस पर लपेटा गया कागज कैसे दे सके वे दोनों सूम-सूमनी यह समस्या मुझ से सुलझ न सकी। उस सम्बन्ध में वास्तव में उनका कुछ जोर न चला होगा। ईश्वर ही जाने उनके 'मन की बात'।

चिकनी मामी कागज की पुड़िया मेरी ओर बढ़ाती हुई—एक बार नहीं चार चार-बार बोलीं—'बम्बई से लौट कर जब आओ तो हमारे यहाँ आना बेटा' वे मुझे भगाना चाहती थीं किन्तु मामा के हृदय में मेरे प्रति प्रेम स्फूरित हो उठा। वे एकदम पूछ बैठे—'अब सीधे घर जाओगे या और कहीं?'

'नहीं नहीं, अभी तो मुझे सराफे में जाना है।'

'क्यों, सराफे में किस लिए जाना है? कुछ सोना-चाँदी खरीदना है क्या?'

'नहीं मामाजी, मेरे एक मित्र के लिये कुछ चिकने पैसों की आवश्यकता है इसलिये—'

और चिकने मामाजी की आँखें देख मैं वहाँ ठहर न सका। न

कुछ बोल सका। सीधा सड़क पर चला आया। उस दिन सारी सड़कें मैंने छान डालीं, सारी गलियों को पार कर दिया। एक तरह से मैं सनक गया था—पागल सा बन गया था मैं उस दिन। जो मिला उसे ही मैंने कहा—'मैं बम्बई जा रहा हूँ', 'मैं बम्बई जा रहा हूँ' और उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि किसी का सन्देश, किसी के पत्र, किसी की मिठाई, किसी की पोटली, किसी की पत्नी, किसी की पुत्री आदि सारा साहित्य जमाकर मैं शाम को घर लौटा और जब मैं घर लौटा उस समय मेरी साइकिल में बँधा थैला मिठाई की पुड़ियों से, कोट का जेब पत्रों से और मेरा मस्तिष्क संदेशों से लबालब भर गया था। पोस्टमैन और सन्देश-वाहक दोनों काम उस दिन अनायास मुझे मिल गये थे सो भी इस बेकारी के युग में।

अभी वक्र ग्रहों की परिसमाप्ति नहीं हुई थी, तभी तो सामने से बाबाराव सरंजामे आते दिखाई दिये। इन्हें अपने बम्बई जाने की सूचना देना मैं भूल ही गया था। वे मेरे पास आकर साइकिल पर बँधे थैले को टटोलते हुए बोले—'एँ, अरे, यह क्या है रे?'

क्रोध आया था कि कह दूँ, 'तुम्हारे बाप की गठरी थोड़े ही है यह!' ओठों तक आये शब्द सभ्यता ने लौटा लिये। मैंने कहा—'कुछ सामान है, कल बम्बई जा रहा हूँ।'

'ओफ् ओ! भई वाह, तू क्या मिला परमेश्वर मिल गया मुझे आज।'

'और तू क्या मिला मुझे राक्षस मिला!' मैंने मन ही मन कहा।

'देख भाई, शालिनी को बम्बई ले जाना है।' वे बोले।

'किन्तु मेरे साथ मित्रों का जमघट है।' मैंने कहा।

'होने भी दे, क्या वे उसे खा जायेंगे?'

पाँच दस मिनिट घिस-घिस करने के बाद उनका और मेरा 'कन्ट्राक्ट' हो गया।

रास्ते में साइकिल पर हवा में वेणी उड़ाती माणिक जा रही थी। मैंने उसे ठहरने का संकेत किया किन्तु वह मुस्कराती हुई निकल गई। आज प्रभात से ही वह हँस रही थी। एकदम हँसती ही जा रही थी। उसके मन में क्या था आज ! कौन कह सकता है उसके मन में क्या था ?

घर आते ही पिताजी से दरवाजे में मुठभेड़ हो गई। एक हाथ में टेबिल क्लाथ था दूसरे में हाजरी बुक। मेरी हाजरी लिखने के उद्देश्य से ही वे द्वार पर खड़े थे।

'सुबह से गये अब लौटे हो, अब शाम के पाँच बज रहे हैं। घर की तो जरा सुध रखते। और तो और भोजन की तो परवाह करनी थी। दो दफा वह बण्डू आ गया और माणिक या 'टानिक' कौन है वह, वह भी आई थी। सुबह आपटेजी से झूठ ही कह दिया कि मैं घर में नहीं हूँ—।' आदि बातें वे एक साँस में कह गये। वह बुधवार का दिन था और बुधवार का दिन मेरी 'हजामत' का दिन होता है यह मुझे मालूम था इसलिये मैं चुप रहा। दूसरे वे मेरे पिता थे और पिता को प्रत्युत्तर देना आर्य धर्म में मना है, अतएव मेरा चुप रहना ही अभीष्ट था।

•

दूसरे दिन पहली अप्रैल को ठीक एक बजे माणिक ताँगा लेकर मेरे घर आ गई। आई तभी से हँस रही थी। रास्ते में भी दूसरी ओर मुँह फिरा उसमें दो इंच रूमाल लगा हँस रही थी। मालूम होता था कुछ ऐसा कारण है कि हँसी का उफान उससे रोके नहीं रुकता था। और जब कभी वह मेरी ओर देखती तो मुझे भी हँसी आ जाती। सच जानिये, मैं इसलिये नहीं हँस रहा था कि माणिक हँस रही थी। मेरी हँसी का सम्बन्ध सीधा मेरे मस्तिष्क से था। मेरे मस्तिष्क में सुबह से एक योजना बन रही थी वह अब सफल होने को थी और इसी से मैं हँस रहा था। फिर भी मैंने माणिक से पूछा—'माणिक, डर्बी की लाटरी खुली है शायद तुम्हारे नाम ? तभी तो तुमसे आज हँसी रोके

नहीं रुकती।'

मेरे इस प्रश्न का उत्तर था एक हँसी का फव्वारा और कुछ नहीं। स्टेशन आ गया और हम दोनों प्लेटफार्म पर पहुँचे। प्लेटफार्म पर महाशय बलवंतरावजी की पलटन मेरा स्वागत करने खड़ी थी। मुझे देखते ही महाशय बलवंतरावजी की धर्मपत्नी महाशया एकदम खुश हो गईं। वे खुलकर मुझसे बातें करना ही चाहती थीं कि माणिक की ओर नजर जाते ही उनका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। एक विचित्र प्रकार से मुँह बना, वजनदार नथ की जरा भी परवाह न कर नाक को सिकोड़ उसकी ओर देखने लगीं। फिर अपनी सब से बड़ी पुत्री चिरंजीव सौभाग्यकांक्षिणी गोदावरी से बोलीं—'यह कौन है री—नाटक कंपनी की नटी है या सिनेमा की वेश्या ?'

उनके इस प्रश्न पर चिरंजीव सौभाग्यकांक्षिणी गोदावरी देवी ने कोई उत्तर नहीं दिया। हाँ, उन्होंने मेरी ओर एक बार तिरस्कार से देख दो-तीन बार नाक सिकोड़ लिया।

इसी समय पूरे तीन ताँगों में मेरे परम मित्र बंदोपंत की परम पूज्या माताजी अपने 'रेजिमेंट' सहित पधारीं। धर्मपत्नी बलवंतराव तथा बंदोपंत की माताजी दोनों की पहले से ही जान-पहिचान थी। दोनों में कुछ इशारे हुए, माणिक की ओर देखा, कुछ धीरे-धीरे बातचीत हुई तब बंदोपंत की माताजी ने बलवंतराव की धर्मपत्नी से प्रश्न किया—'यह नटखट लड़की कौन है जी ?'

'किसे मालूम कौन है यह। होगी चुड़ैल कोई ऐसी वैसी! अब तुम्हीं कहो बहिन, मेरी गोदावरी क्या इनके अनुरूप नहीं थी ? मेरी गोदावरी में क्या कमी है तुम्हीं बताओ !'

अर्थात यह भाषण मुझे लक्ष्य कर किया गया था और वह सच ही था। गोदावरी वैसे थी सुन्दर, लेकिन उसमें कमी थी तो केवल एक—उसका सौंदर्य ऐसे ही था जैसे किसी लड़के ने नाटक में स्त्री-पार्ट लिया

हो और जब वह बोलने लगती तब यह धारणा अधिक दृढ़ हो जाती। बस यही एक बात—यही एक कमी थी सौभाग्यकांक्षिणी गोदावरी देवी में—वैसे वह सुन्दर थी। गोदावरी की माताजी का अगला भाषण सुनने की मेरी इच्छा नहीं थी अतएव जेब से कागज निकाल कर उन्हें मैं गिनने लगा। मेरे साथ ग्यारह पत्र, चौदह सन्देश, मिठाई की उन्नीस पुड़ियाँ और बयालिस मानवीय पारसलें ले जाने को थीं, किन्तु अभी और भी नग आने वाले थे। मैंने माणिक की ओर देखा। वह ताँगे वाले की ओर देख रही थी और मेरी ओर देख ओठों में मुस्करा रही थी।

अल्प समय पश्चात् सारे नग आ गये। मैंने उनकी गिनती की—स्टेशन के सभी लोग मेरी ओर देखने लगे। गिनती करने के उपरान्त मैं टिकट खरीदने गया किन्तु वहाँ भीड़ बहुत अधिक थी। मैंने माणिक से कहा—'माणिक, टिकट तुम ले आओगी? सुनते हैं स्त्रियों को टिकट जल्दी मिलते हैं। स्त्री-गौरव का जमाना अभी समाप्त नहीं हुआ है।'

'किन्तु इतनी बड़ी पलटन इकट्ठी करने का प्रयोजन ही क्या था?'

'अधिक बातें न करो माणिक, गाड़ी का समय हो रहा है, यह सब बातें फिर होंगी। जाओ टिकट ले आओ।'

टिकट लेकर हमारी सेना ने कूच किया। इसी समय मेरे एक मित्र मिल गये। मेरी ओर देख वे बोले—'अरे वाह, क्या विवाह की बारात ले जा रहे हो और हमें खबर भी नहीं! आ हा हा हा' उनका खिलखिला कर हँसना बड़ी देर तक कानों में गूँजता रहा। वे तो मनुष्य के समुद्र में न जाने कहाँ विलीन हो गये थे और हमारी सेना अब विस्खलित हो गयी थी उसे उसी तरह सँभालता—समेटता—मैं अँग्रेजों की जीत की तरह धीरे-धीरे प्रगति कर रहा था। इसी समय टिकट कलेक्टर की ओर मेरी नज़र गई। वह भी मेरी पहिचान का ही था उसने पूछा—

'कहाँ की यात्रा है ?'

'जी हरिद्वार की यात्रा करने जा रहे हैं। जीवन का भी क्या कुछ ठिकाना है। सोचा शत्रु के बम से मरने के पूर्व ही यात्रा का पुण्य लूट लें।'

टिकट कलेक्टर खिलखिला कर हँस पड़ा और हमारी पलटन ने भी उसका सहर्ष साथ दिया। स्टेशन पर जान-पहिचान वालों की कमी नहीं होती। एक और मित्र इस पलटन की ओर देख पूछ बैठे—'यह क्या है भाई ?'

'वूमेन्स आक्जिलीयरी फोर्स ! लिबियन मोर्चे पर जा रही है लड़ने।'

आगे आगे मैं, मेरे पीछे सारी फौज, और उसके पीछे उनका सामान इस प्रकार हम बड़े ठाठ-बाट के साथ सीढ़ी चढ़ने लगे। उस समय क्या मैं किसी नेता से कम था ! मेरे पीछे भी एक दो नहीं बयालिस मनुष्यों का बल था।

और इसी समय मैंने देखा सीढ़ी उतरते समय माणिक का पैर फिसल गया है और वह गिर रही है। मैं उसे पकड़ने दौड़ा किन्तु मैं ही गिरा चारों कोने चित्त। मेरी तमाम फौज खिलखिला कर हँस पड़ी। कुछ शरारती लड़के कहने लगे—'अरे, देख वह तमाशा देख, अरे देख तो कैसा गिरा है चारों कोने चित्त !'

इन शरारती लड़कों को तमाशे के बदले तमाचा दिखाने का मैंने विचार किया किन्तु...।

और आप ही बताइये कि वास्तव में पतन के सिवा किसी का उत्थान हुआ है कभी ? नेता वही है जिसका जनता ने प्रतिक्षण उपहास किया हो। बिना उपहास के आज तक कोई नेता बन सका है ?

ट्रेन में इतनी अधिक भीड़ थी कि न भूतो न भविष्यति। किन्तु यह समय युद्ध की आवश्यकताओं की सब से पहले पूर्ति करने का होने से हमारी फौज को भी अच्छी जगह मिल गई। हमारी सेना की 'वानर-सेना' ने खिड़कियों के पास आसन जमाया। माणिक ने अपने पास

के टिकट अलग अलग कमांडर के हवाले किये। गार्ड ने हरी झंडी दिखाई, सीटी बजाई। गाड़ी ने भी सीटी बजाई और वह चल पड़ी।

और मैं—गाड़ी के चलते ही फूर्ति के साथ दौड़कर प्लेटफार्म पर कूद पड़ा तथा भीड़ में मिल गया। मैंने सहज ही एक बार पीछे मुड़कर देखा तो हमारी सेना में एकदम कोलाहल मच गया था। श्रीमती आपटेजी चिल्लाकर कह रही थीं—'अरे, अरे नीचे क्यों उतरते हो? ऊपर आओ, ऊपर आओ!'

मैंने वहीं से चिल्लाकर उत्तर दिया—'मुझे बम्बई नहीं जाना है। तुम एक दूसरे के साथ बम्बई चली जाओ। ट्रेन बम्बई ही जा रही है। डर की कोई बात नहीं है।'

गाड़ी प्लेटफार्म के बाहर होते ही मेरे जी में जी आया। आज 'पहली अप्रेल' थी और माणिक को 'एप्रिल फूल' बनाने के विचार से मैंने उसे झूठ ही कह दिया था कि 'मैं बम्बई जा रहा हूँ' और माणिक को एप्रिल फूल बनाने का मेरा उद्देश सफल भी हो गया था। अपनी इस सफलता पर मुझे गर्व तो था ही हँसी का उफान भी रोके नहीं रुकता था। जेब से मैंने सारी चिट्ठियाँ निकालीं और स्टेशन पर लगे पोस्ट के बम्बे में बिना टिकट लगाये ही छोड़ दीं। वे या तो बेरंग होकर वापिस आयँगी या मालिक के पास बेखटके पहुँच जायँगी।

माणिक की दुर्दशा पर हँसता और विजय का आनन्द मन ही मन लूटता स्टेशन से बाहर बस-स्टेंड के पास आया और आश्चर्य का धक्का इतने जोर से लगा कि बेहोश होने की नौबत आ गई। मेरी आँखों पर मेरा ही विश्वास नहीं जम रहा था। बस-स्टेंड के पास माणिक खड़ी-खड़ी बस की राह देख रही थी और हँस रही थी। रूमाल मुँह से लगा हँसती ही जा रही थी। मेरी और उसकी नजर जाते ही वह एकदम गंभीर होकर बोली—

'तुम यहाँ कैसे?'

'और तुम यहाँ ?'

आज 'पहली अप्रैल' ! तुम्हें 'एप्रिल फूल' बनाने की गरज से मैंने झूठ ही कह दिया था कि मैं तुम्हारे साथ बम्बई चलूँगी और तुम्हें बनाने की गरज से उस विट्ठल को और दादा मोदक को भी मैंने यही बात कही। इसलिये मैं तुम्हारी नज़र बचाकर ट्रेन से उतर गई। किन्तु तुम भी 'सवाई' मिले। मुझे 'एप्रिल फूल' बनाने के लिये तुमने झूठ ही कहा कि 'मैं बम्बई जा रहा हूँ' क्यों ?

'हाँ, इसीलिये हँसी का प्रवाह तुम से रोके नहीं रुकता था क्यों ?'

माणिक हँसी और मैं भी हँसा। हमने एक दूसरे को 'एप्रिल फूल' बनाने का प्रयत्न किया था और सेर को सवा सेर साबित हुए थे, किन्तु हमारी वह फौज, वह सेना, वह पलटन उसका क्या होगा ? वह तो पूर्णतया 'एप्रिल फूल' बन चुकी थी। हम दोनों घर आये। वे मिठाई की उन्नीस पुड़ियाँ हमारे सम्मुख थीं। उन्हें खोल-खोल कर हम मिठाई खाने लगे। माणिक ने शरारत भरी नज़र से मेरी ओर देख हँसकर कहा—'जिन्होंने ये पुड़ियाँ तुम्हें दी हैं क्या वे धन्यवाद के पात्र नहीं हैं ?'

मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा और कहा—'अवश्य ही। वे अवश्य ही धन्यवाद के पात्र हैं। मैं उन्हें सहर्ष धन्यवाद देता हूँ।'

माणिक की विस्तीर्ण आँखों में शरारत पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। बोली—'उनका अभिनन्दन भी किया जाना चाहिये। वे बधाई के भी अधिकारी हैं। अजी आज एप्रिल की पहली तारीख है न ? ऐसे शुभ और मंगलमय अवसर पर वे सब एक महान् उपाधि से विभूषित किये जा चुके हैं इसलिये...' उसका वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही मैंने आश्चर्य से कहा—'महान् उपाधि !' 'हाँ महान् उपाधि ! जाओ भी इतना भी नहीं जानते। अजी वह उपाधि है 'एप्रिल फूल' और माणिक ठहाका मारकर जोर से हँस पड़ी।

'एप्रिल फूल' मेरे मुँह से निकला और मैं भी जोर से हँस पड़ा।

साहब और गधा

'अब कितना बनाओगे अमृत को। तुम सब चुप रहो। बहुत हुआ। अंग्रेजी बोलते समय यदि उससे भूल हो गई तो क्या उसे इतना चिढ़ाया जाता है !' पं० नरोत्तमजी ने हम सब को डाटते हुए कहा।

ब्रिज का खेल पूरा हो गया था और हम सब घर जाने को ही थे कि रामकुमार ने अमृत से कहा—'अमृत, कल ब्रिज खेलने आओगे न ?'

अमृत ने अंग्रेजी में अकड़कर उत्तर दिया 'ओ यस इफ़ आई ऐम एम्पटी' (हाँ, हाँ, यदि मैं 'खाली' रहा)—हिन्दी के 'खाली' शब्द के लिये अंग्रेजी के 'एम्पटी' शब्द के प्रयोग को देख सभी खिलखिलाकर हँस पड़े और अमृत को बनाने का सुअवसर जान उसे बनाने और चिढ़ाने लगे। रामकुमार ने उसके सिर की ओर देख शरारत से मुस्करा कर कहा—'बट यू सीम टु बी एम्पटी' (किन्तु तुम तो नितांत 'खाली' हो)।

अमृत का मुँह उतर गया था और वह अब चिढ़कर रो देने को ही था कि पं० नरोत्तमजी ने हम सब को डाटा। वे कहने लगे—'विदेशी भाषा विदेशी ही रहेगी। उस भाषा के चाहे हम प्रकांड पंडित क्यों न हो जावें फिर भी एकाध भूल अनजान में हम से हो जानी अनिवार्य है। जिस प्रकार अंग्रेजी बोलते समय हमसे भूल हो जाती है उसी प्रकार अंग्रेजों से हिन्दी बोलते समय भी हो जाती है। हिन्दी बोलते समय अंग्रेज इतनी अधिक विचित्रता कर देते हैं कि देखते ही बनता है। परशुराम पटवारी को एक समय अंग्रेजों का जो अनुभव हुआ वह यदि तुम्हें सुनाया जाय तो तुम हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाओगे।'

पं० नरोत्तमजी को उस घटना की याद हो आई और वे ज़ोर ज़ोर से हँसने लगे।

'कहिये, कहिये, परशुराम पटवारी का अनुभव हमें सुनाइये।' हम सब एकदम चिल्लाकर बोले।

नरोत्तमजी के पास कहानियों का भरपूर खजाना था। वे कहानियाँ सुनाने में भी सिद्धहस्त थे। आज तक सुनाई हुई कहानियों की तरह यह कहानी भी मजेदार और बहारदार होगी यह हमारा विश्वास था।

'साहब और गधा' पं० नरोत्तमजी किसी प्रकार यह कह सके और फिर जोर-जोर से हँसने लगे। हँसी रोके नहीं रुकती थी। फिर भी उन्होंने हँसी को कोशिश कर रोका और रूमाल से मुँह पोंछ वे बोले—'सुनो, कहानी यह है—

दस बारह वर्ष पहले की है घटना वह। तब परशुराम उस गाँव के पटवारी थे। उस गाँव में केवल सौ डेढ़ सौ घर थे। मुन्शी परशुराम के दिलबहलाव के साधन थे केवल ग्राम-निवासियों के आपसी झगड़े या साल में एकाध बार भरने वाला होली का मेला। बस यही दिल-बहलाव के दो साधन थे। वरन् उनका जीवन-प्रवाह अपनी मंथर गति से बह रहा था। एक-एक दिन आता और निकल जाता। बनिये की दूकान पर आने वाले दैनिक पत्रों की रद्दी में दो दो वर्ष पुराने समाचार पढ़ने का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हो जाता। साल में एक-दो बार किसी के मुकद्दमे में जिले के मुकाम पर जाने का सुअवसर भी उन्हें प्राप्त होता। बाहरी दुनिया से बस इतना ही उनका सम्बन्ध था। मु० परशुरामजी को काम भी कम था, वे अपना अधिक सम। पूजा-अर्चा में ही खर्च करते। जीवन में कोई उथल-पुथल नहीं, कोई चेतना नहीं।

'इस प्रकार उनके जीवन का प्रवाह शान्ति से चल रहा था कि उनके गाँव में हफ्ते में एक बार आने वाले पोस्टमैन ने मु० परशुराम

के हाथ में एक सरकारी खरीता थमा दिया। तब उनके ही जीवन में नहीं, सारे ग्राम निवासियों के जीवन में न भूतो न भविष्यति खलबली मचा देने वाला वह प्रसंग आ उपस्थित हुआ। वह खरीता तीन बार पढ़ने पर भी मु० परशुराम को आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। स्वयम् जनाब कलक्टर साहब बहादुर के पवित्र चरण उस गाँव पर पड़ने वाले थे। केवल साहब बहादुर का आना और जाना ही नहीं था, अपितु पूरे चार दिन का पड़ाव था। इतना ही सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो सो भी बात नहीं थी। इस बार उस गाँव के भाग्य का सितारा बहुत ऊँचा था। साहब बहादुर के साथ उनकी मेमसाहबा तथा 'बाबा' भी आने वाले थे। ओहो! यह सौभाग्य कम था? सौभाग्य ही नहीं परम सौभाग्य था वह उस गाँव का। और ऐसे शुभ समय पर मु० परशुराम का वहाँ पटवारी होना कितना महत्वपूर्ण योग था वह उनके जीवन में! आप ही बतलाइये यदि कलक्टर साहब उनकी सेवा से प्रसन्न हो गये तब—तब तहसीलदारी नहीं तो वहाँ हेड कलर्की तो बनी बनाई ही थी। आश्चर्य यह कि मु० परशुराम भी यही सोचते रहे।

वह खरीता बार-बार पढ़ने लगे। प्रेमिका का प्रथम प्रेम-पत्र पाना उनके जीवन में कभी सम्भव नहीं हुआ। वे उस अनुभव से अनभिज्ञ थे। किन्तु प्रेमिका का प्रथम पत्र पाकर हृदय में मचने वाली खलबली, भावनाओं की एक आदि रसभरी अनुभूतियाँ मासिक-पत्रों की प्रेम-कहानियों में पढ़ चुके थे। वे बार-बार उन्हें स्मरण आने लगीं।

कई बार उस खरीते को पढ़ने पर उनके ध्यान में आया कि जनाब कलक्टर साहब के आगमन पर होने वाले आनन्द के आवेग में खरीते में लिखी गई और अन्य बातों की ओर अभी तक उनका ध्यान ही नहीं गया है। साहब बहादुर हिरन का शिकार खेलने आ रहे थे क्योंकि इस गाँव के जंगल में हिरनों के झुंड बहुत थे। साहब मांसाहारी भी हैं, अतएव उस खरीते में दो-चार हृष्ट-पुष्ट बकरे व मुर्गियाँ एकत्रित

करने का विशेष रूप से आदेश दिया गया था। गाँव के बाहर घनी अमराई में जहाँ साहब का कैम्प लगने वाला था, उसकी सफाई करानी थी। उस गाँव में कोई सफाई करने वाला भंगी न हो तो परगना कचहरी में इत्तला देकर एक भंगी का इन्तिजाम कराना था। यह सारे आदेश मुन्शी परशुराम तत्काल समझ गये थे, किन्तु उस पुनीत खरीते में जो एक आज्ञा विशेष रूप से दी गई थी उसका आशय तथा उपयोग बार-बार पढ़ने पर भी उनकी समझ में नहीं आ रही थी। वह आज्ञा भी थी अत्यंत विचित्र। वह आज्ञा थी उत्तम जाति का एक गधा तैयार रखने के सम्बन्ध में।

कलक्टर बहादुर अपने गाँव में पधार रहे हैं यह समाचार बिजली की तरह सारे गाँव में फैल गया। मुन्शी परशुराम के घर की ओर गाँव के गणमान्य नागरिक चल पड़े। कमर झुके वृद्ध, लट्ठ हाथ में लिये युवक, पाठशाला के मास्टर साहब, गाँव का मारवाड़ी बनिया आदि सभी प्रतिष्ठित ग्रामवासियों से धीरे धीरे मुन्शी जी का दालान भर गया। कलक्टर बहादुर मानो अपने ही घर पधार रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति यही सोचकर बोल रहा था तथा उनका स्वागत आदरपूर्ण होना ही चाहिये यह कुछ विशेष रूप मे प्रतिपादित कर रहा था।

मुन्शी परशुरामजी शाकाहारी, थे अतएव उन्हें यह नहीं मालूम था कि मुर्गियाँ, बकरे और अंडे कहाँ मिल सकेंगे। किन्तु उनका यह संकट अबदुल्ला तासे वाले ने दूर कर दिया। उसने अच्छी से अच्छी मुर्गियाँ और बकरे हाजिर करने की जिम्मेवारी ले ली। उस गाँव में अमराइयाँ थीं उनके चारो मालिकों में वाद-विवाद होने लगा। प्रत्येक यही चाहने लगा कि कलक्टर बहादुर की पुनीत पदरज से मेरी ही अमराई पवित्र हो। किन्तु मुन्शी परशुरामजी ने नदी के पास जो सुजान भगत की घनी और विस्तृत अमराई थी वहीं कलक्टर बहादुर के ठहरने के लिये तै की। सुजान भगत अपने सौभाग्य पर फूले नहीं

समाये। उस दिन उन्होने उस सौभाग्य को ईश्वर की परम कृपा समझ ग्यारह बार हनुमानचालिसा का पाठ किया।

इस प्रकार सब प्रबन्ध हो जाने पर अब गधे का प्रश्न उपस्थित हुआ। साहब बहादुर को गधे की आवश्यकता किस लिये है इस महत्व-पूर्ण विषय को लेकर प्रौढ़ और अनुभवी वृद्धों में तर्क-वितर्क आरम्भ हो गया।

मुन्शी परशुरामजी ने गम्भीरता-पूर्वक कहा —'सम्भव है, साहब बहादुर गधे पर बैठ कर शिकार को जायें। सवारी के लिये ही गधे की जरूरत हो उन्हें।'

गाँव के मारवाड़ी बनिये ने इसका प्रतिवाद किया—'अजी वाह, ऐसा भी कहीं हुआ है। इतना बड़ा साहब और वह गधे पर सवारी करेगा। छीः छीः यह हो नहीं सकता।'

मुन्शी परशुरामजी की महीने में चार बार हजामत बनाकर खुशामद करने वाले गनपत नाई को इस कंजूस चिकने मारवाड़ी का प्रतिवाद खटका। उसने तत्काल उत्तेजित होकर कहा —'हाँ, भाई हाँ, तुम्हें क्या मालूम सेठ जी, तुम तो कभी गाँव के बाहर गये नहीं। साहब लोग गधे पर ही बैठते हैं।'

मारवाड़ी बोला—'सबूत ?'

गनपत बोला—'हां, है सबूत। मैं एक बार होली के दिनों में एक शहर में गया था। वहाँ देखा कि लड़को ने साहब का स्वांग बनाया था। जो लड़का साहब बना था वह टोप लगाकर गधे पर बैठा था।'

'अजी वाह ! केवल इसी से यह समझना कि साहब लोग गधे पर बैठते होंगे बड़ी मूर्खता होगी।' पाठशाला के मास्टर ने नमकहलाली से उत्तर दिया।

किन्तु गनपत नाई ने विशुद्ध तर्कपूर्ण उत्तर दिया—'देखिये मास्टर साहब, जब कि असली साहब लोग गधे पर बैठते होंगे तब तो स्वांग

में भी वह नकली साहब टोप लगा गधे पर बैठा था। नकल भी असल की तरह होती है। समझे !'

'हाँ, बिलकुल ठीक है गनपत तुम्हारा कहना। और इस खरीते में जब कि सवारी के लिये घोड़ा तैयार रखने के लिये हुक्म नहीं दिया गया है तब तो गधा सवारी के लिये ही चाहिये इसमें जरा भी संदेह नहीं।' मुन्शी परशुराम ने अनुमोदन किया।

रामा घोसी बोला—'मेरे विचार से तो गधा साहब बहादुर को खाने के लिये ही चाहिये।'

'छिः छिः गधा भी कहीं खाया जाता है !' किसना कुम्हार ने अधिकारपूर्ण स्वर में प्रतिवाद किया।

रामा घोसी भी कम न था। उसने कहा—'किन्तु साहब लोग गाय और सूअर खाते हैं न !'

'हाँ, खाते तो हैं।' मास्टर साहब बोले।

'बस तो फिर झगड़ा तय हो गया जब कि साहब लोग गाय और सूअर खाते हैं तो गधा भी क्यों नहीं खाते होंगे !' रामा घोसी ने कहा। इस तर्कशास्त्र से सभी निरुत्तर तो अवश्य हो गये पर इस बात पर विश्वास किसी ने नहीं किया। अनेक तर्क-वितर्क, विचार-विनिमय होने के पश्चात् इसी विचार को प्रधानता मिली कि गधा, साहब बहादुर को सवारी के लिये ही चाहिये। और इस महान् कार्य के लिये किसना कुम्हार का एक हृष्ट-पुष्ट गधा नियोजित किया गया।

उस दिन उस गाँव में सभी की आँखों में दो जीव खटक रहे थे एक मुन्शी परशुराम पटवारी तथा दूसरा किसना कुम्हार का गधा।

घर आने पर मुन्शी परशुराम जी ने अपनी श्रीमती से कहा—'सुना !'

'क्या ?'

'अपने यहाँ वह अंग्रेजी प्राइमर था न, वह कहाँ है ?'

'आज उसकी आवश्यकता क्यों आ पड़ी ? लल्ला तो अभी हिन्दी तीसरी ही में पढ़ रहा है।'

कलेक्टर साहब के आगमन के समाचार की गंगा मुन्शी परशुराम जी के मुखारविन्द से निकल कर सारे गाँव में बह चुकी थी, किन्तु स्वयं उनके घर में उसका एक भी बूँद अभी तक नहीं पहुँचा था; है न यह ग्यारहवाँ आश्चर्य !

'नहीं जी, प्राइमर की मुझे ही आवश्यकता है।'

'आपको, आप मुझे बना रहे हैं। आपकी उमर क्या अब अँग्रेजी सीखने की है ?' कुतूहल-पूर्वक मुस्करा कर पतिराज के श्रीमुख को निरखती पत्नी महाशया बोलीं।

'सो बात नहीं है जी। मैं क्या अँग्रेजी नहीं जानता।' मुन्शी परशुराम आज बहुत खुशी में थे, उन्होंने सोचा मैं अँग्रेजी जानता हूँ यह कहने के बदले स्वयम् अँग्रेजी बोलकर प्रत्यक्ष प्रमाण देकर पत्नी महाशया को यह बता देना कि मैं अँग्रेजी जानता हूँ अधिक उपयुक्त है। वे तपाक से बोले—'माई डीयर कलेक्टर साहेब इज कमिंग।'

पत्नी महाशया का मुखकमल एकदम खिल गया। पति के प्रति उनका आदर दूना हो गया और मुन्शी परशुरामजी के हृदय की स्फूर्ति पत्नी महाशया की मुस्कराहट से और भी अधिक स्फुटित हुई। वह अपना अँग्रेजी का अगाध ज्ञान पत्नी को दिखा कर उन्हें चकित कर देना चाहते थे। किन्तु इनके अँग्रेजी के अगाध ज्ञान ने उन्हें अचानक धोखा दे दिया अतः वह विचार उन्हें त्याग देना पड़ा। वह बोले—

'अजी अपने गाँव में जनाब कलेक्टर साहब के पवित्र चरण आ रहे हैं। और उसका सारा बन्दोबस्त मुझे ही देखना होगा। तब मिनट मिनट पर उनसे अँग्रेजी बोलना होगा अतएव सोचा कि अँग्रेजी के भूले हुये पाठ याद कर रखना समयोचित है। अभी उनके आने में चार

दिन शेष हैं।'

'ओहो, यह बात है! फिर आपने मुझे सब पहले ही क्यों नहीं बताया?' स्वयम् मुन्शी परशुरामजी ही मानो 'कलक्टर' हो गये हों, इसी दृष्टि से उनकी पत्नी उन्हें निहारती रहीं।

'हाँ' परशुरामजी बोले—'और उनकी श्रीमतीजी भी आने वाली हैं। उनका 'बाबा' भी साथ आयेगा।'

'बाबा! अभी तक उनके बाबा जीवित हैं?'

पत्नी के अज्ञान पर मुन्शी महाशय खिलखिलाकर हँस पड़े। अनन्तर प्रेमपूर्वक बोले—'निरी पागल हो तुम! उनका 'बाबा' यानी 'लल्ला'। लल्ला को बाबा कहते हैं। हाँ, एक बात और उत्तम 'टी' है न घर में।'

'यह 'टी' क्या बला है?'

'अजी लिपटन 'टी' यानी 'उम्दा चाय' एक दिन उन्हें चाय पीने को बुलाना होगा न?

साहब बहादुर से अँग्रेजी में बोलना होगा अतएव मुन्शी परशुराम ने अँग्रेजी का उत्साह-पूर्वक अभ्यास आरम्भ कर दिया। दो दिन तो उन्होंने पूजा के कार्यक्रम को भी तिलांजली दे दी। किन्तु इससे कुछ गलतफहमी होने का अन्देशा है। पूजा को उन्होंने तिलांजली दे दी इसका मतलब यह है कि वे पूजा को तो बैठते थे किन्तु विष्णु-सहस्रनाम के बदले मन ही मन वे 'आर ए टी रैट यानी चूहा, सी ए टी कैट यानी बिल्ली' का पाठ करते रहते।

उनका अँग्रेजी का ज्ञान प्राइमर तक ही सीमित था किन्तु फिर भी धाराप्रवाह अँग्रेजी बोलकर साहब बहादुर को चकित कर देने का उनमें आत्मविश्वास था, क्योंकि वे हमेशा कहते रहते थे कि हमारे समय के प्राइमर के सम्मुख आज भी मैट्रिक की किताबें फीकी पड़ जाती हैं।

अन्त में वह शुभ दिवस आ ही गया। अपटूडेट कलक्टर साहब बहादुर, घुटनों तक गाउन पहनी हुई उनकी मेम साहबा टमाटर जैसा लाल लाल उनका 'बाबा' सभी उसी अमराई में बड़े ही आदर-पूर्वक ले जाये गये। आज अरुणोदय के समय से ही गाँव में उत्साह और आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा था। आज सभी उषःकाल के पूर्व ही उठे, स्नान किया घर घर बच्चों को नहलाया गया। त्योहार के दिन के कपड़े पहनाये गये। उन्हें बड़े-बूढ़ों ने भी साफ-सुथरे कपड़े पहिने मानों आज दशहरा जैसा कोई बड़ा त्योहार ही हो। अमराई में सभी स्वागत करने एकत्रित हो गये थे। गाँव की स्त्रियाँ भी साफ सुथरे कपड़े तथा गहनों से लदी सज-धज के साथ एक बरगद के पेड़ के नीचे बैठी थीं। कोई कोई मेम साहब के गाउन की टीका-टिप्पणी कर रही थी तो कोई 'बाबा' की लीलाओं की तारीफ कर रही थी।

मुन्शी परशुरामजी आज पूरे मुन्शी जँच रहे थे—मानों दूल्हे के बाप हों उनके सिर पर खानदानी पगड़ी शोभा पा रही थी। एक लम्बा अंगरखा उन्होंने पहना था। वे और गाँव के दो चार गणमान्य नागरिक ही केवल कलक्टर साहब के निकट जा सकते थे।

बड़े ही विनीत भाव से, मंद गति से मुन्शी परशुरामजी कलक्टर बहादुर के सम्मुख जाकर खड़े हो गये। साहब की नजर उनकी ओर जाते ही मुन्शीजी दोनों हाथ जोड़ बोले—'वेल कम सर !'

साहब मुस्कराये। अंग्रेजी स्वर और ताल पर किन्तु हिन्दी में बोले—'सु-स्वा-ग-त-म् कहो, मैं हिन्दी अच्छी तरह जानता हूँ।'

सिंदूर लगे पाषाण के हनुमानजी बोल उठते या वहाँ बँधा किसना कुम्हार का गधा वेदों का उच्चारण करने लगता तब भी इतना आश्चर्य ग्राम-वासियों को न होता, जितना कि कलक्टर साहब के हिन्दी बोलने से हुआ। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। आश्चर्य का

धक्का उन्हें इतने जोर से लगा कि वे सब के सब पाँच मिनट तक निस्तब्ध, निर्वाक साहब बहादुर की ओर देखते ही रह गये। धीरे-धीरे वे सुध में आने लगे। किन्तु मुन्शी परशुरामजी को साहब का हिन्दी बोलना खटका। बेचारे के प्राइमर को 'रटली' करने की मेहनत व्यर्थ ही गई थी। साहब बहादुर से अंग्रेजी बोलने का परम सौभाग्य उन्हें ही प्राप्त होनेवाला था, क्योंकि उस गाँव में अंग्रेजी जानने वाले केवल वही एक थे। और उनके इस सौभाग्य पर साहब के हिन्दी-ज्ञान ने पानी फेर दिया था।

वास्तव में साहब के हिन्दी ज्ञान पर आश्चर्य करने की कोई बात ही नहीं थी। लन्दन में आई० सी० एस० की परीक्षा में हिन्दी लेकर प्रथम श्रेणी में पास होने वाले मिस्टर डडले वहाँ हिन्दी में अधिकार-पूर्वक धारा-प्रवाह बोल सकते थे। उन्हीं मिस्टर डडले ने कलक्टर साहब बहादुर को उन दिनों लन्दन में उनके हिन्दी-ज्ञान पर अस्सी फीसदी नम्बर दिये थे। इसके अतिरिक्त साहब बहादुर बेरा, चपरासी आदि नौकरों से हिन्दी में ही बात कर अपने हिन्दी-ज्ञान को परिमार्जित करते रहते थे, अतएव यदि साहब बहादुर को यह आत्म-विश्वास हो कि वे ग्राम-वासियों से हिन्दी में ही बोलकर प्रत्येक कार्य सम्पन्न कर सकेंगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

गाँव के निवासियों की आश्चर्य भरी मनः स्थिति की ओर लक्ष्य कर साहब बहादुर उन्हें और भी आश्चर्य-चकित करने के उद्देश्य से बोले—'शाबास, तुमने मेरा प्रबन्ध तो अच्छा किया है। बहोत शुक्रगुजार। हाँ, किन्तु वो गधा कहाँ है?'

कुशल समाचार पूछने के पूर्व ही साहब का गधे के बारे में पूछ-ताछ करना सभी को जरा खटका। उनमें से कितने ही यह सोचने लगे कि किसना कुम्हार के गधे के शरीर में यदि हमारी आत्मा होती तो हम कितने सौभाग्यशाली होते! सम्भव है साहब बहादुर अपने गोरे-गोरे

नरम लाल-लाल हाथ उस पर फेरें—उसे पुचकारें........।

और इसी समय तीन दिन से साबुन और गरम पानी से नहलाकर साफ किया हुआ अपना सफेद हृष्ट-पुष्ट गधा किसना कुम्हार ने अभिमानपूर्वक साहब के सम्मुख पेश कर दिया और जमीन तक झुककर तीन बार मुजरा किया। अपना गधा देख साहब बहादुर अवश्य ही खुश होंगे, इसका उसे ही नहीं सभी ग्राम-वासियों को विश्वास था। किसना कुम्हार सोच रहा था कि मुझ गरीब के गधे पर साहब बहादुर की गौर मूर्ति विराजित होगी— सारे गाँव में यह गौरव मुझे ही प्राप्त होगा। किसना अभिमान से फूल रहा था। इधर उसे एक चिन्ता और सता रही थी कि साहब का वह विस्तृत प्रचंड देह का वजन वह गधा कैसे सहन कर सकेगा और वह बच भी सकेगा या नहीं और कहीं उस पर साहब के बैठते ही वह भी जमीन पर बैठ गया तो अपनी खैर नहीं। वह यह भी सोच रहा था कि एक बार वह साहब का वजन सह ले और गौर-शरीर के रूप में अवतरित यह देव प्रसन्न हो जाय और फिर गधा मर जाय तो कोई मुजायका नहीं। वह ऐसे छप्पन गधे खरीद सकेगा।

अब उस गधे का उपयोग साहब किस प्रकार करते हैं इधर सब का ध्यान था। साहब ने एक बार उस लम्बकर्ण की ओर देखा। फिर चिल्लाकर सभी को और भी आश्चर्य के इन्द्रजाल में डाल दिया, वह कड़क कर बोले—'यह गधा मुझे नहीं चाहिये दूसरा गधा लाओ।'

सभी प्रकार से परिपूर्ण और सम्पन्न वह गधा फेल हो गया। उस गाँव में उस गधे का पहला नम्बर था। अपना सर्वोपरि सर्वगुण-सम्पन्न गधा फेल होते ही किसना कुम्हार का मुँह उतर गया। किन्तु यह समय विचार करने का नहीं था। कलक्टर साहब के हुक्म की तामील जल्द से जल्द बजा लाने का था। मुन्शी परशुराम ने फौरन आदमी दौड़ाये और अल्प समय पश्चात् ही एक दूसरा गधा ला

उपस्थित किया गया। यह गधा भी बुरा नहीं था। सभी को आशा थी कि साहब यह गधा अवश्य ही पसंद करेंगे।

अब साहब के 'बाबा' का रोना आरम्भ हो गया था। आया समझाते-समझाते थक गई। स्वयं मेम साहब उन्हें समझाने लगी थीं। साहब ने नये गधे की ओर देखा और एकदम चिल्ला पड़े—'यह गधा भी नहीं चाहिये।'

साहब के इनकार पर सभी फिर आश्चर्य के समुद्र में गोता खाने लगे। साहब को किस प्रकार का गधा चाहिये कोई भी सोच न पाता था। साहब से साफ साफ पूछने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। सम्भव है 'बाबा' को बैठने के लिए गधे के बच्चे की आवश्यकता हो यह सोचकर एक गधे का बच्चा फौरन लाने का हुक्म मु० परशुरामजी ने दिया। 'बाबा' का रोना बढ़ने लगा। मेमसाहब, स्वयम् कलक्टर बहादुर जिनके संकेत पर हमारा जिला थर्रा उठता था वे भी बाबा को समझा रहे थे और बाबा मचल रहा था। इसी समय एक गधे का बच्चा लाकर साहब के सामने पेश कर दिया गया। गधे का बच्चा भी खूबसूरत होता है यह सर्वश्रुत है, किन्तु मेमसाहब ने उसे देखते ही नाक भौं सिकोड़ मु० परशुराम की ओर क्रोध से देखा। साहब बहादुर के क्रोध का पारा भी एक डिग्री ऊपर चढ़ गया। वे बोले—'मुझे छोटा गधा नहीं चाहिये बड़ा गधा चाहिये।'

फिर एक बार दौड़-धूप आरम्भ हो गयी। अल्प समय पश्चात् ही पाँच छ गधे साहब के सामने उपस्थित किये गये। मु० परशुराम मन ही मन ईश्वर की प्रार्थना करने लगे—'हे दयाधन परमेश्वर, हे राम, हे कृष्ण, यदि भक्ति भाव से मैंने तुम्हारी पूजा की हो, तेरा नाम स्मरण यदि मैंने मन लगाकर किया हो तो इन गधों में से एक गधा अवश्य ही साहब को पसन्द आने दो भगवन्! किन्तु दयाधन परमेश्वर के बही-खाते में उनका पुण्य संचय पूर्णतया नहीं था, जान पड़ा। साहब बहादुर

ने उन सब गधों की ओर देखा। क्रोध से लाल हो गये। वह चिल्लाये—'मूर्खो, ये गधे मुझे नहीं चाहिये, ये सब के सब मुझ जैसे हैं। मुझे मेम साहब जैसा गधा चाहिये।'

अब क्या किया जाये स्थिति विकट हो गई। साहब का लाल चेहरा क्रोध से और भी लाल हो उठा था। किसी को उनकी ओर देखने की हिम्मत ही नहीं हो रही थी। और बाबा का सुर अब सप्तम तक पहुँच गया था।

सभी चुप थे और उनकी चुप्पी से साहब के क्रोध का पारा सातवे आसमान पर चढ़ गया। 'मूर्खो! देखते क्या हो? मैं तुम्हें कह रहा हूँ न कि ये सब गधे मेरे जैसे हैं...।

अब मु० परशुरामजी से नहीं रहा गया वह बीच में ही हाथ जोड़ बोल उठे—'छिः छिः अन्नदाता यह कैसे सम्भव है। आपकी और गधे की तुलना कैसे हो सकेगी? सेवक से यदि कुछ भूल हो गई हो तो क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना है। क्रोध न कीजिए सरकार। भूल चूक माफ कीजिये। हम सब आपकी प्रजा हैं।'

'शटअप!' (चुप रहो) साहब एकदम चिल्लाये 'मैं कह रहा हूँ न ये सब गधे मुझ जैसे हैं। हमें नहीं चाहिये, मेम साहब जैसा गधा लाओ।'

फिर वही। अब किया क्या जाय? साहब क्रोध से काँपने लगे। मेम साहब के नथुने भी क्रोध से फूल उठे। अंग्रेजी में काला आदमी के सात पुरखों तक उद्धार करने लगीं और बाबा ने रो-रो कर आकाश पाताल एक कर दिया। सभी अवाक् देखते ही रहे। कोई भी उपस्थित समस्या सुलझाने में समर्थ न हो सका। साहब बहादुर के क्रोध को देख उसे लगा कि हेड क्लर्की या तहसीलदारी मिलना तो दूर रहा, यह पटवारीगिरी ही बच जाये तो बहुत है। एक बार उन्हें यह भी आशंका हुई कि साहब के दिमाग में खलल तो नहीं है। फिर भी वे मुन्शी थे। समय-सूचकता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। नये साफ-सुथरे कपड़े

खराब होंगे इसकी जरा भी परवाह न कर वह साहब के चरणों पर गिर पड़े और बोले—'जनाब बहादुर अपराधों की माफी चाहता हूँ, किन्तु यदि श्रीमान् को गधे की किस कार्य के लिये आवश्यकता है यह कहने की कृपा की जायगी तो इस गरीब पर बहुत बहुत उपकार होगे। तब उस प्रकार का गधा श्रीमान् की सेवा में तत्काल उपस्थित किया जायगा। धृष्टता की क्षमा चाहता हूँ, सरकार!'

मुन्शी परशुराम जी की विनम्र प्रार्थना से साहब बहादुर का क्रोध बहुतकुछ शान्त हो गया। वे बोले—'हमारे 'बाबा' को दूध पिलाना है। हम उसे गधे का दूध पिलाते हैं। इसीलिये तो मैं कह रहा हूँ कि मेम साहब जैसा गधा चाहिये। मुझ जैसे गधे से दूध कैसे प्राप्त हो सकेगा।'

साहब के इतना कहते ही यह गधा समस्या तत्काल सुलझ गई। अल्प समय पश्चात् ही साहब बहादुर के सम्मुख दूध देने वाली पाँच गधी लाकर उपस्थित की गईं। वातावरण प्रफुल्लित हो उठा और आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा।

गर्दभराज की पत्नी महाशया को हिन्दी में 'गधी' कहते हैं यह बात साहब बहादुर को मालूम नहीं थी इसीलिए यह इतना बखेड़ा हुआ।

पं० नरोत्तमजी की कहानी सुनकर हम सब हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। हँसना कुछ कम होते ही पं० नरोत्तमजी ने कहा—'सारांश यह है कि जिस प्रकार अंग्रेजी बोलते समय हम लोगों से भूल हो जाती है उसी प्रकार विदेशी लोगों से भी हिन्दी बोलते समय भूल होती ही है। इसलिये किसी को चिढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। कुछ भी हो विदेशी भाषा विदेशी ही है और रहेगी।'

मेरी युद्ध-कालीन यात्रा

काठियावाड़ के बहादुरपुर राज्य की राजधानी बहादुरपुर में मैं सेटिलमेन्ट आफिस में हेड क्लर्क हूँ। आरम्भ में मैं बाईस रुपये मासिक वेतन पर नौकर हुआ था। राज्य के नियम के अनुसार प्रति पाँच वर्षों में आठ आने के हिसाब से तरक्की पाकर मुझे इस समय पच्चीस रुपये आठ आना वेतन तथा युद्धजन्य महँगाई तीन आना इस प्रकार कुल पच्चीस रुपये ग्यारह आना प्रतिमास मिल रहे हैं।

मैं सितारा का रहने वाला हूँ। गत पन्द्रह वर्षों से मैं अपनी मातृ-भूमि के दर्शन नहीं कर सका था। मेरी एक बहिन पूने में रहती है। उसने मुझे दिवाली पर पूना आने के लिये बहुत आग्रह-पूर्वक पत्र लिखा था किन्तु लड़ाई की गड़बड़ी के कारण दिवाली से पंद्रह दिन पहले लिखा हुआ उसका वह पत्र मुझे दिवाली के पाँच दिन बाद मिला। मेरे आने की कोई सूचना न पाकर मेरी बहिन ने अर्जेंट तार किया था वह मुझे पत्र मिलने के आठ दिन बाद मिला। मेरी आर्थिक कठिनाइयों से परिचित होने के कारण उसने मुझे सफर खर्च के लिये मनीआर्डर भी किया था उसका तो अब तक पता ही नहीं है। इन कारणों से दिवाली पर तो मैं बहिन के घर नहीं जा सका। किन्तु इस 'शुंछे' के प्रान्त से कुछ दिन के लिये पिंड छुड़ाने की गरज से मैंने अपने भांजे के विवाह का बहाना कर छुट्टी प्राप्त कर ली। छुट्टी मंजूर करते समय अधिकारी महोदय ने पूछा भी कि 'इन दिनों में विवाह के मुहूर्त कैसे?' इस पर मैंने जरा अकड़ कर उत्तर दिया कि 'कोर्ट में रजिस्टर्ड पद्धति' से विवाह होगा। हम महाराष्ट्रीय कितने अधिक समाज-सुधारक होते हैं यह गुजराती भाइयों को दिखाने का एक भी प्रसंग मैं व्यर्थ नहीं जाने देता।

हमारे बहादुरपुर राज्य के ठाकुर साहब अतिशय राजनिष्ठ हैं यानी अंग्रेज सरकार में अत्यन्त निष्ठा रखते हैं। युद्ध के आरम्भ में जब विलायत में राशनिंग प्रचलित की गई थी उसी समय हमारे साम्राज्य-भक्त ठाकुर साहब ने अपने राज्य में भी राशनिंग आरम्भ कर बची हुई अन्नवस्त्रादि सामग्री अंग्रेजी सेना के लिये भेजने को सहर्ष तैयार होने के सम्बन्ध में स्वयम् इंगलैंड के बादशाह सलामत को तार देकर निवेदन किया।

ठाकुर साहब की राजनिष्ठा के प्रभाव में आकर मैं अपना प्रवास-वर्णन करने के बदले उनका गुण-गान ही करने लग गया। हाँ, तो मुझे यात्रा करनी थी किन्तु प्रत्येक दैनिक, साप्ताहिक मासिक पत्र में 'अनावश्यक यात्रा न कीजिये' (ट्रैवेल व्हेन यू मस्ट) का विज्ञापन पढ़ मेरे हृदय में भय उत्पन्न हुआ कि कहीं मेरा यह प्रवास महात्मा गांधी के 'दांडी-प्रवास' के अनुसार डिफेन्स आफ इण्डिया ऐक्ट की किसी धारा में तो नहीं आ रहा है? अतएव मैं बहादुरपुर के स्टेशन मास्टर के पास जाकर सिर झुका, हाथ जोड़, मुझे अपने भांजे के विवाह में सम्मिलित होना कितना आवश्यक है इसकी करुण कहानी विनम्र शब्दों में निवेदन की। स्टेशन मास्टर को मुझ पर दया आ गई यह मैंने उनके स्मितयुक्त चेहरे से ताड़ लिया। वे बोले—'ठीक है। मैं तुम्हें प्रवास की अनुमति अभी मँगाये देता हूँ। किन्तु इस रेलवे लाईन का छठवाँ स्टेशन रानीकोट जंकशन है वहीं तक का टिकेट देने की हमें आज्ञा है, और उसके लिये तुम्हें कम से कम पन्द्रह दिन पूर्व नोटिस देकर माँग करनी होगी। उसके बाद गाड़ी में तुम्हारे लिये जगह है या नहीं, इसकी जाँच करने के उपरान्त तुम्हें उस तारीख की सूचना दी जायेगी। उसी दिन तुमको रानीकोट जाना होगा। रानीकोट पहुँचने पर आगे का टिकट प्राप्त करने के लिये वहाँ अर्जी दीजिए। भांजे के विवाह की तिथि कुछ दिन बाद की निश्चित करने के लिये तार कर दीजिए।'

'किन्तु साहब, मैं गाड़ी में बैठूँगा नहीं खड़े खड़े ही चला जाऊँगा।' मैंने अत्यन्त अनुनय-विनय के साथ कहा।

'तुम खड़े रह कर जाओ या औंधे गिरकर जाओ किन्तु एंजिन में तुम्हारा 'बोझ' खींचने की भी तो ताकत होनी चाहिये।' स्टेशन मास्टर ने चिढ़कर कहा—'हमारे सब एंजिन इस समय फ्रण्ट पर काम अंजाम दे रहे हैं। हम आजकल रास्ता बनाने के 'स्टीम-रोलर्स' में आवश्यक तबदीली कर उनसे किसी प्रकार काम ले रहे हैं, समझे ! अब आप तशरीफ ले जाइये। बुकिंग आफिस में अपना नाम नोट कराइये और टिकट मिलने की प्रतीक्षा कीजिए।'

बाध्य होकर अपना नाम नोट करा कर मैं घर आ गया। और उसी दिन अपनी बहिन को पत्र लिखा कि 'अब मैं होली की छुट्टियों में आऊँगा।' एक महीना यानी पूरे तीस दिवस रोज स्टेशन पर चक्कर काटने के अनन्तर मुझे रानीकोट का टिकट मिल गया।

मैं यात्रा का इन्तजाम करने लगा। कोई भी यात्री दस सेर से अधिक वजन साथ में नहीं ले जा सकता। इस रेलवे के नये नियम के अनुसार मैं अपनी आवश्यक वस्तुएँ ही साथ में लेने वाला था। कुलियों ने फी अदद के लिए आजकल छः आना अपना रेट कर दिया था। सामान कम लेने का दूसरा कारण यह भी था।

अपने इष्ट देव का चिंतन कर—कुल—देवताओं का स्मरण कर तथा ग्राम-देवताओं का ध्यान कर मैंने अपनी यात्रा सुखद तथा निर्विघ्न समाप्त होने की सब देवताओं से मन ही मन प्रार्थना की और स्टेशन की ओर चल पड़ा। स्टेशन के पास ही कस्टम नाका था। वहाँ शहर से जाने वालों के सामान की तथा शहर में आने वालों के सामान की कस कर जाँच होती थी। हमारे गाँव में ऊपर लिखे अनुसार सभी वस्तुएँ इतनी कम मिलती थीं कि उसमें से कोई एकाध वस्तु बचा कर बाहर ले जा सकेगा यह कल्पना ही हास्यास्पद थी। प्रत्येक

नागरिक को हर एक वस्तु कूपन के अनुसार मिलती थी और उन्हें प्राप्त करने के लिये कुटुम्ब के एक सदस्य को अपना सब काम-धंधा छोड़ कर दिन भर भटकना पड़ता था। इतना होने पर भी उस दिन की प्राप्त वस्तुओं से कौन सी वस्तु कितनी बची रही यह प्रत्येक नागरिक को स्वयम् आफिस में जाकर लिखाना पड़ता था। यदि किसी के घर मेहमान आया तो सामान का संतुलन रखने के लिये जिस घर वह मेहमान आया होगा उस घर का एक सदस्य उस मेहमान के गांव में जहाँ से वह आया है भेजना ही पड़ता था। क्योंकि ऐसी सरकारी आज्ञा थी।

आफिस में जो वस्तुएं लिखाई जाती थीं उनमें दाल, चावल, गेहूँ, बाजरा, शक्कर, गुड़ आदि मामूली वस्तुएं तो थीं ही, इनके अतिरिक्त घर में दियासलाइयाँ कितनी, नमक मिर्च कितनी, घर में भरा हुआ पानी कितना, घर के छप्पर पर खपरैल कितने, दिवालों में ईंटे कितनी, घर में लकड़ी कंडे कितने, आदि सभी चीजें लिखानी पड़ती थीं। हमारे गाँव में नदी होने पर भी पानी की तादाद लिखाने का कारण केवल इतना ही था कि यदि बम गिरने से गाँव में आग लगी तो उसको बुझाने के लिये किसके घर कितना पानी मिल सकेगा यह तत्काल सरकार को मालूम हो सके। खपरैल और ईंटें लिखाने का कारण केवल इतना ही था कि बम-वर्षा में यदि कोई घर नष्ट-भ्रष्ट हो गया तो वह पूरा खोदा गया या नहीं यह ईंटें व खपरैल की संख्या से मालूम हो सके। लकड़ी और कंडों का लिखाना इसलिये आवश्यक था कि यदि शत्रु का कोई विमान टूट कर नीचे गिर पड़े तो उसे जलाने के लिये किसके घर कितने कंडे और लकड़ियाँ प्राप्त हो सकेंगी यह तत्काल सरकार को मालूम हो सके। अस्तु।

हमें घासलेट के कूपन्स नियम-पूर्वक मिलते थे किन्तु उनके अनुसार घासलेट कभी भी नहीं मिलता था अतएव उन कूपनों को

जला कर उनके प्रकाश में ही हम रात में रोशनी कर लेते थे।

कस्टम नाके पर मेरे सामान की जाँच होने लगी। मैं उस गाँव का सरकारी नौकर—पुराना निवासी, तथा सभी से परिचित था। इसलिए मेरी जाँच कम हुई। मेरी दो पुरानी धोतियाँ, व एक फटा गमछा जाँच में सही-सलामत बच गये और उनके निर्यात में कोई बाधा कस्टम अधिकारियों ने उपस्थित नहीं की, किन्तु मेरे 'नाश्ते' के दफ्ती के डिब्बे की ओर नजर जाते ही नाकेदार महोदय ने उस ओर संकेत किया। मैंने कहा—'इसमें कुछ भी नहीं है। केवल नाश्ते के लिये रखे गये 'सेव-गाठिये' हैं।' मैंने शान्ति-पूर्वक कहा।

'वाह, महाशय जी वाह! आप भी खूब हैं! इतनी महत्वपूर्ण वस्तुएँ आप बेधड़क बाहर ले जा रहे हैं और फरमाते हैं इसमें कुछ भी नहीं है। वाह! सेव गाठिये किस चीज से बनते हैं क्या यह हमें मालूम नहीं है। चना, चने की दाल, वेसन, मैदा या इनसे बना कोई भी पदार्थ बाहर ले जाना अपराध है। इस सम्बन्ध में सरकारी ऐलान कल होने वाला है किन्तु उसका अमल आज से ही आरम्भ कर देने की आज्ञा हमें प्रदान की गई है। लाइये 'सेव-गाठिये' इधर। वाह जी वाह।'

मैं चुपचाप डिब्बे से 'सेव-गाठिये' निकालने लगा। इस अंदाज से कि उनके नीचे छिपा कर रखे हुए लड्डू उनके नजर में न आ सकें किन्तु उनमें से एक ने मेरे हाथ से डिब्बा छिन कर एकदम औंधा कर दिया। लड्डुओं को देखते ही वे सब के सब आग बबूला हो गये। आग बबूला हो गये कहने के बजाय उनके मुँह में पानी भर आया यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। सेव गाठियों के साथ-साथ लड्डू खाना किसे पसन्द न होगा। उनमें से एक ने चिल्ला कर कहा—'वाह महाशय वाह! घी-शक्कर और सूजी तीनों का 'निर्यात' आज दो वर्षों से बन्द होने पर भी आप ये तीनों चीजें एकत्रित कर बेधड़क

राज्य के बाहर ले जा रहे हैं। एक ही धारा के अनुसार आपने तीन अपराध किये हैं। आप सरकारी नौकर होकर भी इस भाँति नियमोल्लंघन करने लगे तो और लोगों को हम किस प्रकार सजा दे सकेंगे। वास्तव में कायदे के अनुसार आपको भी इस सामान के साथ-साथ चौकी में बन्द कर रखना हमें नियमानुसार आवश्यक हो गया है, लेकिन आपके कहने के अनुसार आपका जाना आवश्यक है तो हम भी आपको रोकना नहीं चाहते किन्तु उसके लिये......।'

उसके कहने का मतलब तत्काल मेरे ध्यान में आ गया और मैंने एक रुपये का नोट उसके हाथ में थमा दिया। विगत कितने ही दिनों से श्रीमतीजी तथा बच्चों की चाय, चाय के अवगुणों का वर्णन प्रखर शब्दों में कर—बन्द कर दी थी। और मैं स्वयम् गुड़ की चाय पीता था इस प्रकार प्रवास के लिये नाश्ते की चीजें बनाने के लिये शक्कर की बचत की फिर भी थोड़ी शक्कर कम पड़ी तो वह दस गुना भाव में 'चोर बाजार' से (ब्लेक मार्केट से) लाई गई थी। इस प्रकार शक्कर की करुण कहानी थी। उसी शक्कर के बने लड्डू कस्टम के उन राक्षसों के पेट में जाने का ध्यान आते ही मेरा हृदय तिलमिला उठा और आँखों में आँसू आ गये। किन्तु बचने का उपाय ही कुछ न था।

स्टेशन पर आया तो मालूम हुआ कि गाड़ी चार घंटे लेट है। यह चार घण्टे किस प्रकार व्यतीत किये गये इसकी कहानी लिख पाठकों का समय नष्ट करना नहीं चाहता। चार घण्टे बाद ही सही गाड़ी तो आयेगी और वह आई थी। और गाड़ी खड़ी रहते ही हमारे देश के रिवाज के अनुसार उतरने वाले प्रवासियों को उतरने का अवसर न देकर हम सब के सब एकदम एक ही डिब्बे में घुस पड़े। बच्चों और स्त्रियों को भी उतरने का अवसर देना हमारे लिए कोई विशेष महत्व की बात नहीं थी।

डिब्बे में उतरने और चढ़ने के मार्ग में ही सामान भरा पड़ा था। उतरने वालों की चिल्लपों तथा चढ़ने वालों की हाय हाय के मारे, तथा बीच में रखे सामान के कारण हमारे पैर जमीन को लगते ही नहीं थे। हम सब चढ़ने वाले ऊपर के ऊपर तैर रहे थे अचानक मुझे एक जोर का धक्का लगा और मैं एक पठान की गोदी में जिसने एक बेंच पर अपने सोने तक का इन्तजाम कर रखा था, जा गिरा। मैं जाति से हिन्दू था और मुसलमान के गोदनशीन जाने का सौभाग्य मुझे मिला था किन्तु पठान को यह गोद नशीनी अच्छी प्रतीत नहीं हुई क्योंकि उसने मुझे फिर दूर ढकेल दिया। इस धक्का-धक्की में पठान बहादुर के बेंच पर रखी एक बड़ी गठरिया नीचे गिर पड़ी और मुझे अनायास खाली जगह मिल गई।

एक प्रवासी को खड़े रहने को भी जगह नहीं थी, वह उस डिब्बे की धोके की चेन से अधर लटक रहा था। हम सबको यह भय लग रहा था कि चेन के खिच जाने से गाड़ी चल नहीं सकेगी और इस बेचारे को पचास रुपये दंड के देने होंगे। हमें तब बहुत ही आश्चर्य हुआ जब कि चेन खिंची हुई होने पर भी गाड़ी बेधड़क चल पड़ी। हमारे डिब्बे में टिकटों की जाँच करने के लिये टिकट-कलेक्टर आये। टिकट-कलेक्टर से गाड़ी न रुकने का कारण पूछा तो उसने कहा 'इस चेन का जनता चाहे जैसा दुरुपयोग करती है, यह बात रेलवे अधिकारियों के ध्यान में आते ही—(उस चेन मे लटक कर प्रवास करना भी एक दुरुपयोग ही था) उन्होंने इस धोके की चेन को बिना धोके की कर दी है।' इस धोके की चेन के दुरुपयोग का एक उत्तम उदाहरण उस टिकट कलेक्टर ने हम सब के सामने पेश किया। उसने कहा अभी हाल ही में एक स्त्री ने अपना बालक नीचे रह जाने के मामूली कारण से बिला वजह चेन खींच ली तथा रेल का अमूल्य समय पूरा डेढ़ मिनट खर्च कर दिया। रेल का और भी अमूल्य समय नष्ट होता

किन्तु गार्ड ने उस स्त्री का कहना सुना-अनसुना कर फिर से गाड़ी चालू करने की सूचना दे दी, गाड़ी चल पड़ी और अमूल्य समय की बरबादी बच गयी। केवल उस स्त्री का बच्चा ट्रेन के नीचे कुचल गया सो ऐसा होता ही रहता है।

अंदाजन तीस से पैंतालिस मिनट पर्यंत गाड़ी दमा के रोगी के भाँति साँस खींचती तथा छोड़ती धीरे धीरे चलती रही और जंगल में एकदम खड़ी रह गई। मैंने सोचा दूसरा स्टेशन आ गया होगा और सिग्नल न गिरने के कारण गाड़ी खड़ी रह गई होगी। मैंने खिड़की से झाँककर देखा तो दो-तीन टोप वाले साहब तथा उनके पीछे पीछे हाथों में कुल्हाड़ियाँ लिये दस-बारह मजदूर नीचे उतर रहे हैं। मजदूर तो जंगल में घुस गये, और साहब लोग हर एक डिब्बे के पास आकर प्रवासियों के नीचे उतरने की आज्ञा देने लगे। किसी ने आगे की रेल की पटरियाँ उखाड़ कर फेंक दी हैं और वे परशुधारी लोग उन्हें पकड़ने जंगल में घुस गये हैं। हम सब का अनुमान यही था। इसी समय उनमें से एक साहब भी हमारे डिब्बे के निकट आकर नीचे उतरने की आज्ञा देते ही हम सब जान औ माल लेकर नीचे उतर गये। केवल वह पठान नीचे नहीं उतरा और न किसी प्रकार उतरने के लिये राजी हो रहा था। उलटे उन साहब महोदय से हुज्जत कर उनसे चाहे जैसी बकवाद करने लगा। साहब घबराया तो जरूर फिर भी बोला —

'मौलवी साहब, आप नये प्रवासी मालूम होते हैं। आप इस रेलवे डिपार्टमेण्ट के नये रूल से परिचित भी नहीं जान पड़ते हैं। आजकल बंगाल का कोयला हमारे देश में नहीं आ रहा है, इसलिये' जंगल की लकड़ियाँ काट कर रोज एञ्जिन में झोंकनी पड़ती हैं। लकड़ियाँ काटने के लिये रेलवे डिपार्टमेंट के मजदूर हैं ही किन्तु डिफेन्स आफ काठियावाड़ ऐक्ट की धारा ग्यारह हजार नौ सौ निन्यानबे 'ढ

के अनुसार पंद्रह वर्ष से अधिक आयु वाले सभी स्त्री पुरुषों ने दो दो मन लकड़ियाँ लाकर एंजिन में डालनी ही चाहिये। इसलिए मेहरबानी फरमा कर—।'

डिफेन्स आफ काठियावाड़ ऐक्ट का नाम सुनते ही अब तक हिन्दू प्रवासियों पर रौब गाँठने वाला, बात बात में हुज्जत करने वाला वह कट्टर पठान बिल्कुल बकरी बन चुपचाप नीचे उतर गया। हम सब लकड़ी लाने चल पड़े। हम पर हुकूमत करने वाला साहब बहुत ही दयालु होने से जो प्रवासी एकदम दो मन लकड़ियाँ नहीं उठा सके वह दो बार करके लकड़ियाँ ला सकता है साथ ही यह विशेष रिआयत उसने प्रदान की थी। उसी प्रकार यदि लकड़ी लाते समय कोई प्रवासी लकड़ियों के बोझ से अथवा धूप की तेजी के कारण चक्कर खाकर गिर पड़े तो उनका मुफ्त इलाज करने के लिये दयालु सरकार ने एक दवाखाने की व्यवस्था भी रेल के एक डिब्बे में कर दी थी।

कोमल तथा नाजुक स्त्रियों के लिये भी एक व्यवस्था की गई थी। ऐसी स्त्रियों को लकड़ी उठा कर लाने के काम से कृपापूर्वक वंचित कर उनसे केवल एञ्जिन में पड़ी गीली लकड़ियाँ सुलगाने के लिये पंखों से हवा करने का हलका काम दिया गया था।

अदाजन दो ढाई घंटों के अनन्तर यह जंगल-सत्याग्रह-विधी संपूर्ण हुई। अन्तर केवल इतना ही था कि पहले जो जंगल-सत्याग्रह किया गया था वह अराजक लोगों ने किया था और हमारा जंगल-सत्याग्रह राजनिष्ठ लोगों की ओर से राजकाय के लिये किया गया था।

गाड़ी एक स्टेशन पर ठहर गई। शहर के रिवाज के अनुसार 'पाणी बामणिया' 'चाय मुसलमानी' आदि के नारे लगाये जाने लगे और सामान बिक्री को आने लगा। मैं घर से निकला था तभी से भूखा था, मैंने 'बामणिया चाय' (किसी भी जाति के मनुष्य ने ब्राह्मणों के लिये ही विशेष रूप से दूध, शक्कर, चाय विरहित बनाई हुई चाय)

पीने का निश्चय किया। एक मैले-कुचैले लड़के ने—जो अभी घूरे के ढेर में से उठकर आया हुआ जान पड़ता था—एक टूटे कान की काली कलौटी चीनी की प्याली में चाय उंडेल कर मेरे सामने कर दी। चाय पीते समय श्रावणी के समय के 'पञ्चगव्य' की याद मुझे हो आई। चाय के पैसे देने के लिये मैंने एक बड़ी कपड़े की थैली निकाली और उसमें से मोटे पुट्ठे का एक टुकड़ा चाय वाले के हाथ में पकड़ा दिया। काठियावाड़ के सभी शहरों के अनुसार हमारे बहादुरपुर में भी रेजगारी का पूर्ण अभाव था। अतएव गाँव के व्यापारियों ने पैसा, दो पैसे, एक आना के पास प्रचलित कर दिये थे। कीमत में कम होने पर भी एक रुपये वाले नोट से अधिक दिनों तक जीवन धारण कर सकते थे। मजबूती में उनकी बराबरी एक रुपये वाले नोट नहीं कर सकते थे। ये पास अधिकतया सिगरेट के पुराने डिब्बे के पुट्ठे के टुकड़े करके बनाये गये थे। उनके पीछे लिखा गया था 'बे पैसानो माल आपशो' (दो पैसों का माल दीजिए) अथवा 'रणविजय होटेल, चाय एक कप कीमत एक आना' ऐसे व इस प्रकार के और मजमून उन पर लिखे रहते थे। उनसे भी रेजगारी के अभाव की पूर्ति नहीं हुई और एक नया संकट उपस्थित हो गया। उन डिब्बे के पुट्ठों पर सीनेमा नटियों के फोटो होने के कारण कालेज तथा हाई स्कूलों के तरुण विद्यार्थी विशेष रूप से संग्रह करने लगे और रेजगारी के अभाव-पूर्ति का वह कल्पना भी सफल नहीं हुई। अब क्या किया जाय? 'व्यापारियों के सम्मुख एक समस्या उपस्थित हो गई। उन्होंने उसको हल भी कर लिया। व्यापारियों ने बुद्धिमता के साथ यह योजना प्रचलित की कि कोरे पुट्ठे काट कर एक ओर पास की कीमत तथा दूसरी ओर चर्चिल, एमरी, जिन्ना आदि महापुरुषों के फोटो छपवाकर चिपका दिये। यह योजना सफल भी हुई और पासों का संग्रह करना लोगों ने छोड़ दिया। इसका कारण केवल यह था कि इन महान्

आत्माओं को एक ही जगह नजर बन्द करके रखना लोगों को उचित नहीं जान पड़ा। अस्तु। मैंने जान-बूझ कर सिनेमा नटीवाला एक पास चाय वालों को दे दिया। एक सेकंड को वह उसकी ओर देखता रहा और फिर चिढ़कर बोला—यह क्या ? महाशयजी क्या आप चाय पीने की कीमत में अपनी श्रीमती का फोटो मुझे दे रहे हैं ?'

'अरे भाई, उस पुट्ठे की दूसरी ओर क्या लिखा है, यह तो पढ़ो पहले फिर जो कुछ कहना हो, कहो।' मैंने शान्तिपूर्वक हँस कर कहा। मन ही मन मुझे यह भी आनन्द हो रहा था कि पास के दूसरी ओर लिखी कीमत पढ़ते ही उसकी अकल ठिकाने आ जायगी और चार जनों के सामने उसे लज्जित होना पड़ेगा। मुझे यह पूर्ण विश्वास था।

कीमत एक आना यह मजमून पढ़ते ही वह और भी चिढ़ गया और बोला—'यह क्या ?' आपकी श्रीमतीजी की कीमत एक आना है महाशय जी।

'अरे पागल, यह पास है पास। जरा अकल से काम लो, यह हमारे बहादुरपुर में रेजगारी के बजाय चलते हैं, समझे !'

'यह पास, रखिये आप अपनी थैली में, मुझे तो आप नक़द पैसे दीजिए। निकालिये, निकालिये, वरना... ...।' वह पैंतरा बदल कर खड़ा हो गया तथा कुरते की बाहें ऊपर चढ़ाने लगा। मैंने सोचा पागल के मुँह लग कर पागल बनने में कोई अर्थ नहीं है, अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। मैंने जेब से चुपचाप एक रुपये का नोट निकाल कर उसे दे दिया क्योंकि मेरे पास रेजगारी थी ही नहीं। अर्थात् चाय वाला भी मेरे पास रेजगारी नहीं है कह कर वह नोट जेब में डाल चलता बना।

अगले स्टेशन पर एक रुपये की पाँच बाजरे की पुरियाँ तथा भटे के डंठलों की भाजी लेकर मैंने अपने पेट की आग शमन की। गेहूँ

का पूर्णतया अभाव होने से सभी स्टेशनों पर बाजरे की पुरियाँ ही बिकने आते थीं। उसी प्रकार सभी प्रकार की भाजियों पर पूर्णतया नियंत्रण होने से भाजी के डंठल और छिलके बेचने की ही इजाजत थी।

संध्या समय हमारी गाड़ी गौधलपुर स्टेशन पर आकर खड़ी हो गई। अगला स्टेशन रानीकोट था और वहीं मुझे उतरना था, अतएव गौधलपुर में ही पानी आदि पीकर उतरने के लिये सुसज्जित होकर बैठना उचित जान मैं ट्रेन से नीचे उतरना ही चाहता था कि इसी समय नीली पगड़ी वाले सिपाहियों ने प्रत्येक डिब्बे के फाटक बन्द कर चावियों से ताले लगा दिये। कितनी देर तक सभी प्रवासी बन्द रहने के पश्चात् दो-तीन सिपाही ताले खोल कर अन्दर घुस आये और अपना अपना सब सामान खोलो, अपनी डरावनी भाषा में हुक्म दिया।

हरएक प्रवासी की ट्रंक, बिस्तर सभी उन्होंने खुलवाकर अन्दर का सुव्यवस्थित रखा सामान खींच खींच कर अस्त-व्यस्त कर दिया। एक मद्रासी महिला की अचार की बरणी तक को उन्होंने निर्भय हो छू लिया। एक प्रवासी के तकिये को उघड़वा कर सारा कपास बाहर निकलवाया जो हवा से उड़ गया। एक अंधे प्रवासी की आधार स्वरूप लकड़ी का निचला हिस्सा जरा बारीक होने से उसे भाले की उपमा देकर हथियार के अनुसार उसे जब्त कर लिया। अब मेरी बारी थी मेरी दरी, पुरानी धोती आदि सामान की जाँच होने पर वे दूसरे प्रवासी की ओर झुकना ही चाहते थे कि उनकी नज़र मेरे हाथ पर बंधी रिस्ट-वाच की ओर गई।

'हाँ, महाशयजी, यह घड़ी किस धातु की बनी है?' उन्होंने पूछा।

'एटीन कैरेट सिल्व्हर की है वह, मेरी ससुराल से मुझे उपहार में मिली है।' मैंने अकड़ कर उत्तर दिया।

'ऐसा! तो महाशयजी उसे इधर लाइये' उसमें से एक सिपाही ने कहा!

'क्यों, समय देखना हो तो मैं श्रीमान् को समय बता सकता हूँ।' मैंने कुछ घबराहट से कहा।

'समय बताने को तुम्हारी घड़ी की मुझे आवश्यकता नहीं है। इस सीमा से बाहर चाँदी या चाँदी की बनी कोई वस्तु ले जाना कायदे से मना है अतएव इस घड़ी केस को तुम्हें यहाँ निकाल देनी होगी। अन्दर के पुर्जे चाहे आप निकालकर ले जा सकते हैं।'

'किन्तु अन्दर के पुर्जे किस प्रकार निकाले जाते हैं यह मैं जानता नहीं हूँ, न मेरे पास चाकू आदि कोई ऐसा सामान है जिससे पुर्जे निकाले जा सकें।' मैंने करुण स्वर में कहा।

'यह कोई विशेष महत्व की बात नहीं है। पुर्जे निकालने की सहल तरकीब मैं तुम्हें बतलाता हूँ। इस बेंच पर यह घड़ी जोर से पटक दीजिए तब केस ही क्या हरएक पुरजा अलग अलग हो जायगा।' उस होशियार सिपाही ने अचूक तरकीब बतलाई थी। अनिच्छापूर्वक मैंने उस तरकीब को कार्यान्वित कर केस उनके हवाले कर दिया और पुरजे भीख माँगने वहाँ खड़े एक भिखारी को इनाम में प्रदान कर दिये।

'मिस्टर अब आप मनीबेग निकालिये।' उस सिपाही ने फिर हुक्म दिया। अन्दर की जेब से मनीबेग निकालने के लिये। मेरे कोट के बटन खोलते ही वह सिपाही चिल्लाया—'अरे, यह क्या? यह कोट का अस्तर किस कपड़े का है?' इतना कह मुझे कुछ कहने का अवसर न दे उसने मेरे शरीर पर से कोट उतार लिया और उसका प्रत्येक भाग जाँचने लगा। मैंने प्रवास के लिये विशेष रूप से तीन वर्ष पूर्व वह कोट बनवाया था। उसके अस्तर पर मिल की छाप अब भी ज्यों का त्यों मौजूद था। 'बहादुरपुर मिल्स लिमिटेड, फाईन लांग क्लाथ' इस छाप को पढ़ते ही सिपाही बहादुर ने फरमाया—'इस प्रकार का कपड़ा इस सीमा से बाहर ले जाने के लिये फी इंच २।) रुपये ड्यूटी देनी पड़ती है समझे'!' इतना कह कर उसने तत्काल जेब से टेप निकाल कर अस्तर

को नापना आरम्भ कर दिया। कोट की जेबों में भी वही अस्तर लगा था। फी इंच सवा दो रुपये के हिसाब से मुझे अन्दाजन पैंतीस चालीस रुपये देने होंगे। और उतनी रकम में मेरे पाँच छ नये कोट बन सकते थे। दूसरे मुझे मेरे सामान सहित बेचा जाता तब भी उतनी रकम एकत्रित नहीं हो सकती थी। मैंने यह सारी बातें स्पष्ट रूप से, विनय-पूर्वक, करुण स्वर में सिपाही बहादुर से निवेदन की तब उस सिपाही बहादुर ने भी उतने ही स्पष्ट रूप से और प्रखर स्वर में कहा—लॉ इज लॉ, नियमों का पालन होना ही चाहिये। समझे। हां, यदि तुम्हारे पास ड्यूटी का चार्जेज अदा करने के लिये पैसे न हों तो उतना कपड़ा उस कोट से हम काट लेंगे।'

और उसने जेब से कैंची निकालकर तत्काल मेरी जेब काटना आरंभ कर दिया। चोर, जेबकट, चोरी से जेब काटते हैं यह मुझे मालूम था और बम्बई में ट्राम में एक बार इसका अनुभव भी मैं कर चुका था। किन्तु इस बार मेरी जेब नियमानुसार काटी गई थी। नियमानुसार तथा खुले रूप से जेबें काटे जाने का यह अपूर्व प्रसंग देख, कायदे की बारीक निरीक्षण शक्ति पर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। कायदे का इतना व्यवस्थित तथा प्रखर रूप से यदि पालन होता रहा तो देश में कभी अव्यवस्था फैल ही नहीं सकेगी मेरा यह पक्का विश्वास है। मेरी जेबें काटी जाने पर उनमें रखी पैसे की थैली नीचे गिर पड़ी और उसमें रखे पास नीचे गिरकर बिखर गये। मेरे पास दो रुपये के करीब रेजगारी यानी पास थे।

'तुम सिगरेट के कूपन्स एकत्रित करते हो!' उन पासों की ओर देखते हुए सिपाही ने पूछा।

'ये सिगरेट के कूपन्स नहीं हैं। ये मेरे पास हैं यानी मेरी रेजगारी है।' मुझे उसके अज्ञान पर दया हो आई।

'अच्छा, यह बात है! फिर कानून-भंग! सात आने से अधिक

रेजगारी एक मनुष्य अपने पास नहीं रखता है यह नियम क्या आपको मालूम नहीं है ? लाइये वे पास इधर। मैंने सभी पास उठाकर उनके हवाले कर दिये। और उन्होंने आपस में बाँट लिये। उन पासों की बटनी सीनेमा तारिकाओं के फोटो पर से हुई थी अर्थात् अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार सीनेमा तारिकाओं के फोटो हरएक ने ले लिये थे। इतना सब होने पर वे सिपाही अब दूसरे एक प्रवासी की जाँच करने लगे। मेरा जलपान का सामान गया। रिस्टवाच गई। कोट की धज्जियाँ उड़ाई गई और अंत में रेजगारी भी गई।

अगला स्टेशन रानीकोट, वहीं मुझे उतरना था। वहाँ पहुँचने पर अगला टिकट प्रदान करने के लिये रेलवे कम्पनी को अर्जी देनी थी। कितने दिन वहाँ रहना होगा निश्चित नहीं था। रहने के लिये स्थान कहाँ मिलेगा, भोजनादि की क्या व्यवस्था होगी आदि की चिंता मुझे सता रही थी।

मेरे सामने के बेंच पर एक महाशय बैठे थे। वे मेरी ओर देख बोले—'आप कहाँ जायेंगे ?'

मैंने कहा—'बम्बई होते हुए पूना जाने का विचार है।'

'रानीकोट से बम्बई जाने वाली सभी गाड़ियाँ बन्द हो चुकी हैं। केवल सप्ताह भर में एक गाड़ी जाती है। उसमें भी प्रवासियों के लिये एक व माल के उब्बास डिब्बे लगे रहते हैं। आपको बम्बई का टिकट मिलने के लिये कम से कम चार महीने लगेंगे।'

उन महाशय के मुखारविन्द से यह जानकारी तथा भविष्य सुनकर मैं बर्फ के समान ठंडा पड़ गया और मेरी चेतना जाती रही। चार महीने उफ् चार महीने !

वे महाशय रानीकोट के तहसीलदार थे। स्वभाव से भले तथा प्रेमी जान पड़ते थे। मेरी अवस्था निरख, परख, देख बोले—'यदि आप पसन्द करें तो मैं एक तरकीब बताता हूँ।' मेरी गई चेतना लौट आई।

और मुझे लगा कि दिल्ली—छिः छिः पूना दूर नहीं है। मैं अधीरता-पूर्वक ध्यान लगाकर उनकी तरकीब सुनने लगा। 'देखिये, आपको बहुत दिनों तक रानीकोट में रहना होगा। अभी एकदम पूना का टिकट मिलना बिलकुल दुश्वार है। लौटकर बहादुरपुर जाना चाहो तो वह भी उचित नहीं है क्योंकि प्रवास की तकलीफ, करों का बोझ, गाड़ी में जगह न मिलने का संकट सवार है ही सर पर। तुम्हें बहादुरपुर लौट कर जाने में दुगनी तकलीफ होगी। अब तक के प्रसंगों की याद आते ही मेरा शरीर थरथरा उठा तथा हृदय कम्पित हो उठा। 'तब मेरी राय यदि आप मानें तो ऐसा करिये कि मेरे आफिस में एक क्लर्क की जगह खाली हुई है। वेतन प्रतिमास तीस रुपये मिलेंगे और प्रत्येक वर्ष एक रुपये के हिसाब से तरक्की भी मिलेगी। आपका काम अच्छा रहा तो अफसरी भी मिल सकती है। यदि आपको स्वीकार हो तो मेरे साथ चलिये काम का चार्ज लीजिए।'

तहसीलदार साहब की यह योजना मुझे पूर्णतया मान्य हो गई और रानीकोट स्टेशन पर उतर मैं उनके साथ उनके ही घर पर गया। तहसीलदार साहब के मेहमान का यानी मेरा बचाखुचा सामान जाँचने की अब किसी की हिम्मत नहीं थी और न मेरे फटे कोट की ओर देख किसी की खुलकर हँसने की हिम्मत थी।

दूसरे दिन मैंने अपने नये कार्य का चार्ज ले लिया और उसी दिन अपनी बहिन को मैंने चिट्ठी लिखी—'मैं अगले जन्म की दिवाली को अवश्य ही पूना आऊँगा। इस जन्म की दिवाली मनाना मेरे भाग्य में बदा नहीं है।' पत्र में मैंने अपना नया पता भी लिख दिया था।

बहादुरपुर के आफिस के बड़े साहब को भी पत्र लिखकर मैंने निवेदन किया था कि 'मैं फौज में भरती हो गया हूँ अतएव नियमानुसार मेरी नौकरी व पेन्शन का हक सुरक्षित रहना आवश्यक है।'

अब बहादुरपुर से श्रीमतीजी, बालबच्चे तथा सामान लाना ही

शेष रह गया था। मैंने श्रीमतीजी को लिखा कि—युद्ध समाप्ति के अनन्तर गाड़ी में जगह मिलने पर तथा महसूल अदा करने के लिये पूरे पैसे होने पर मैं आकर तुम्हें अवश्य ही यहाँ ले आऊँगा। तब तक धैर्य धारण करने को मैंने बार-बार लिख दिया था।

हाँ, पत्र के नीचे मैंने ताजा नोट अवश्य ही लिख दिया कि—

'युद्ध समाप्ति के पूर्व यदि भूकम्प से सारे महसूल के नाके नष्ट होकर जमीन के अन्दर धँस गये तो मैं उसी समय आकर तुम्हें यहाँ ले आऊँगा। विश्वास करो।'

के कारण इतने अधिक लेखक बदले हैं कि वे अब बिलकुल निराश हो गये हैं और उन्होंने दृढ़ निश्चय किया है कि अब जैसा भी लेखक मिले रख लेना और उसे कभी भी अलग नहीं करना, उससे संभालकर शान्तिपूर्वक काम लेना यही उनका निश्चय यानी 'वज्रलेखो भविष्यति' है।

आजकल मैं श्रीमान प्रोफेसर महाशय के ग्रंथ में अधिक से अधिक भूलें करने की अपनी संपूर्ण शक्ति काम में ला रहा हूँ। ग्रंथ का विनाश हो रहा है या सत्यानाश हो रहा है इसे तो प्रोफेसर महाशय जाने किन्तु सात प्रतियाँ लिख चुका हूँ और अब आठवीं प्रति का काम जोरों से चल रहा है। प्रोफेसर साहब जब तक जीवित हैं नौकरी जाने का भय मुझे नहीं है। किंतु भूलें करने की अपनी अपार शक्ति काम में लाकर मैं कितना महान् कार्य कर रहा हूँ इसे श्रीमती प्रोफेसर महाशया भली भाँति जानती हैं और उनका मुझ पर पुत्रवत् प्रेम हो चला है। वे आजकल प्रोफेसर साहब के वसीयतनामे में मेरे नाम का भी समावेश करने की चिंता में हैं और मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरी सिफारिश अवश्य करेंगी।

पंडितजी का वक्तृत्व

इस संसार में जितनी भी शरारती कलाएँ हैं उनमें वक्तृत्व-कला का एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। बालकों को तथा बालकों की सी प्रवृत्ति रखने वाले प्रौढ़ों को बेसुध कर कुमार्ग की ओर ले जाने वाली, स्वार्थी नेताओं का स्वार्थ साधन करा देने वाली, वृद्ध समाज में अथवा यों कहिये कि 'पुराने' समाज में धूर्तबाजी का तथा नवयुवकों में हुल्लड़बाजी का प्रचार कराने वाली यह कला मुझे कभी भी सिद्ध न हो सकी।

अंतःकरण में घबराहट तथा हृदय में धीरज का अभाव ये दो ही कारण इस कला से वंचित करते रहे। मैट्रिक पास करने पर कालेज में भरती हुआ। प्रथम छः मास यों ही निकल गये। सम्पत भाई जानी उस समय मेरे ही क्लास में पढ़ता था। विद्यार्थी संघ की कार्यकारिणी समिति के निर्वाचन में जो लोग हमारे कालेज की ओर से खड़े हुए उनमें सम्पत भाई जानी का भी नाम था। किसको चुना जाय इसका निर्णय करने के लिए, अधिक से अधिक वोट किसको दिये जायँ इसके लिये एक सभा बुलाई गई थी। कालेज हाल छात्र और छात्राओं से ठसाठस भर गया था। सम्पत भाई जानी का परम मित्र होने के नाते उसे अधिक से अधिक वोट दिलाना मेरा प्रथम कर्तव्य था। अतएव मैं सम्पत भाई जानी की ओर से बोलने उठा—अपना भाषण मैंने खूब रट लिया था फिर भी सम्मुख उपस्थित भीड़ को देख मैं घबरा भी गया था। छाती फुला कर तथा शर्ट की कालर ढीली कर मैंने बोलना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे मेरा भाषण जमने लगा। उपस्थित विद्यार्थी समाज पर मेरे भाषण का प्रभाव जमते देख सम्पतलाल का चेहरा खिल गया। इसी समय विरोधी पार्टी के एक विद्यार्थी ने मेरे हाथ में एक चिट्ठी थमा दी—

तुम्हारी धोती की कांच खुल गई है। कृपया बैठ जाइये वरना फजीहत होगी।

तुम्हारा हितचिंतक।

चिट्ठी पढ़ते ही मैं घबरा गया और लज्जित भी हुआ और चट से अपनी जगह पर बैठ गया। चिट्ठी का मजमून निरा झूठ था यह मुझे बाद में मालूम हुआ।

इस वक्तृत्व-कला की परिभाषा रामजी पटेल ने बहुत ही सुन्दर, योग्य भाषा में की है। उनके लड़के भीमजी ने एक दिन पिताजी से पूछा—'पिताजी, वक्तृत्व किसे कहते हैं?'

रामजी पटेल ने उलटा उससे ही प्रश्न किया—'बेटा, किसी ने तुम्हें यह कहा कि दो और दो चार होते हैं तो इसको तुम क्या कहोगे?'

'यह तो 'कहना' हुआ पिताजी।'

'शाबास बेटा, बड़े होशियार हो। अब कोई तुम्हें यह कहे कि दो और दो पाँच होते हैं तो इसको तुम क्या कहोगे?'

'यह 'बड़बड़' हुई पिताजी।'

'वाह, वाह, हजार उमर हो बेटा तुम्हारी! बड़े हाजिरजवाब हो। अच्छा सुनो, सारे गाँव के लोग एक जगह एकत्रित हुए, बीच में टेबिल कुर्सी रखी गई। एक राय बहादुर कोट पतलून पहन कर वहाँ आये। टेबिल के पास खड़े रहे। एक बार इधर देखा, एक बार उधर नजर उठाई। टेबिल पर रखे पानी के गिलास में से एक घूँट पानी पिया। फिर खकार कर कहा—'हे सज्जनो, ग्रामवासी भाई बहनो!' फिर जरा ठहर कर। एक बार फिर इधर-उधर देखा। एक घूँट पानी पीकर फिर कहने लगे—'आज मैं अपना अमूल्य समय खर्च कर यहाँ आकर क्यों खड़ा हुआ हूँ! दो और दो कितने होते हैं यह कहने मैं दिल्ली से यहाँ आया हूँ।' फिर टेबिल पर जोर से हाथ की मुट्ठी पटक कर जोर से चिल्ला कर—'कहो कितने होते हैं दो और दो? सुनो, दो

और दो मिलकर पाँच होते हैं समझे ! इतना कहकर मैं आपसे रुखसत होता हूँ।' इतना कहकर वह तालियों की कड़कड़ाहट के बीच में नीचे बैठ गये तो वह क्या हुआ बेटा भीम ?

'उसने झूठ कहा पिताजी।'

'अरे पागल उसने झूठ नहीं कहा। यही वक्तृत्व है, वक्तृत्व ! आँखों को मटका कर, गर्दन को झटका देकर बिना अटके बड़ी-बड़ी बातें हाँकने को ही वक्तृत्व कहते हैं बेटा !'

रामजी पटेल की यही वक्तृत्व-कला के सम्बन्ध में प्रामाणिक परिभाषा है।

अपने सांसारिक तथा सार्वजनिक अनुभवों पर मैंने लेख लिखे। वह पुस्तक रूप में प्रकाशित कराये। एक दो सीनेमा कम्पनियों ने उस पर चित्रपट भी बनाये। मैं फूला नहीं समाया। आप ही बताइये, इतिहास प्रसिद्ध प्रथम बाजीराव या शिवाजी के जीवन पर अब तक किसी ने चित्रपट नहीं बनाये किन्तु मेरे जैसे साठ सत्तर रुपये प्रतिमास पाने वाले साधारण क्लर्क के जीवन पर चित्रपट बनाये जायँ क्या यह मेरे लिये अभिमान की बात नहीं थी ? अब माताजी और श्रीमतीजी उन चित्रपटों को देख बहुत बहुत नाराज़ होती हैं पर इससे क्या मेरे लिये तो वह गौरव और अभिमान की ही बात है।

और इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। मेरा खूब विज्ञापन हुआ। मैं लोगों की नजरों में आदरणीय बन गया तथा भाषण देने के लिये गाँव-गाँव से मैं निमंत्रित किया जाने लगा।

सब से प्रथम मुझे भाषण देने के लिये निमन्त्रित किया गया श्री भवानी पेठ लकड़ी बिक्री-संघ की ओर से। कृष्णजन्माष्टमी के दिन आफिस की छुट्टी थी मैं घर पर ही था। श्रीमतीजी श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाने वाली थीं। अतएव उनकी आज्ञा थी कि मैं श्रीकृष्ण के लिये बाँस की लकड़ी का एक पलना बनाकर दूँ। बाँस, चाकू सुतली

आदि साहित्य लेकर उनकी आज्ञा-पालन में निमग्न था कि एकदम पाँच छः व्यक्ति मेरे द्वार पर आकर खड़े हो गये। इससे पूर्व कभी भी अपने द्वार पर इतनी भीड़ मैंने नहीं देखी थी। मैं घबरा गया और उन्हें किसकी तलाश है और क्यों आये हैं इसकी पूछताछ की। उनमें से एक नवयुवक ने कहा—'श्रीमान, क्या चम्पतलाल जानी आप ही हैं?'

उनमें से एक दूसरे ही व्यक्ति ने तीसरे मनुष्य को धक्का देकर कहा—'अरे, ये नहीं हैं चम्पतलाल। चम्पतलालजी को मैंने सिनेमा में देखा है उनकी एक आँख तिरछी है।'

इस पर मैंने हँस कर कहा—'सिनेमा का चम्पतलाल, सच्चा चम्पतलाल नहीं है—अरे भाई वह तो मेरा अभिनय करने वाला नट है।' मेरे इतना कहने पर उन्हें विश्वास हुआ कि मैं ही चम्पतलाल हूँ।

नवयुवक ने कहा—'हम लोग श्री भवानी पेठ लकड़ी विक्री-संघ की कार्यकारिणी के सदस्य हैं।'

'ऐसा! माताजी ने लकड़ियाँ भेजने के लिये कहला भेजा होगा। मैं अभी माताजी से पूछता हूँ। हाँ, मगर लकड़ियों का भाव क्या है आजकल? एक मन की कीमत क्या होगी? यदि आपके संघ ने हमें किफायत से दी तो हम दो तीन मन सहज ही खरीद सकेंगे।' मैंने कहा।

'हम लकड़ी बेचने यहाँ नहीं आये हैं श्रीमान्! न हम जलाऊ लकड़ियाँ बेचने का धंधा ही करते हैं।' गाँधी टोपी पहिने हुए एक सज्जन ने कहा।

'मन दो मन फुटकर लकड़ी बेचने का साधारण धंधा करने वाले हम दूकानदार नहीं हैं। हम तो फुल वेगन भर कर लकड़ी भेजने वाले थोक व्यापारी हैं।' जरी किनारे की धोती पहिने एक सज्जन का अभिमान जाग उठा।

'वाह, वाह, वेगन भर कर भेजते हैं वैसे आलू भर कर क्यों नहीं

भेजते।' मेरी यह सुन्दर उक्ति सुनकर सभी जोर से हँस पड़े। तब मैंने उन सब को आदर-पूर्वक दरी पर बैठाया और पूछा—'आपका आगमन किस कारण हुआ कृपया सुनाइये ?'

जरी किनारे की धोती वाले खाँस-खूँस कर बोले—'प्रति वर्षानुसार इस वर्ष भी हमारे संघ की ओर से इक्कीसवाँ श्रीगणेशोत्सव इसी मास में मनाया जाना निश्चित हुआ है। इस वर्ष के उत्सव में श्री० केलकर, आचार्य अत्रे, शतावरी देवी और प्रोफेसर हवलदार के आने की सौ फी सदी सम्भावना है। उन्होंने यहाँ पधार कर भाषण देना स्वीकार भी कर लिया है। आप भी पधार कर श्रीगजाननजी की सेवा करें तो संघ आपका बहुत बहुत उपकृत होगा। इसी लिये यह डेप्युटेशन आपकी सेवा में उपस्थित हुआ है।'

'मैंने अब तक सार्वजनिक रूप से कहीं भी भाषण नहीं दिया है। मुझे तो आप माफ करें।' मैंने घबरा कर कहा।

'वाह वाह, यह तो बहुत ही अच्छी बात है। हमारी हाथ जोड़ कर प्रार्थना है कि अपना पहला भाषण सुनाने का सुयोग आप हमारे संघ को ही प्रदान करें। हमारे संघ का यह परम सौभाग्य होगा। और हमारे इस महान सौभाग्य को देख गुड़-बिक्री-संघ के कार्यकारीणी के सदस्यों की नाक में मिर्चा लगेगा।'

'फिर वे गुड़ का व्यापार छोड़ कर लकड़ी का ही व्यापार करेंगे।' मेरी इस उक्ति से सभी हँसने लगे। मैंने फिर कहा—'गुड़-बिक्री-संघ में और आप लोगों में जलन क्यों है ?'

'श्रीमान्, हम भवानी पेठ के व्यापारियों ने गणपती-उत्सव आरम्भ किया शके अठारह सौ बीस में—दस पाँच साल तक सब मिल-कर एक ही उत्सव मनाया करते थे। लोकमान्य तिलक, 'काल' सम्पा-दक परांजपे जैसे सुविख्यात राजनीतिज्ञ, महान् नेताओं के भाषण होते, रहिमन खाँ जैसे प्रसिद्ध गवइये के जलसे हुआ करते, सन्मित्र

समाज की ओर से नाटक होते।' जरी किनारे की धोती वाले कह रहे थे। 'किन्तु महाशयजी, व्यवस्थापक लोगों में लकड़ी-विक्री-संघ के व्यापारियों की मेजारिटी देख गुड़-विक्री-संघ के व्यापारी चिढ़ गये। उन्होने अपना अलग उत्सव मनाना शके अठारह सौ अट्ठाइस में आरम्भ कर दिया।'

'लोगों ने उनके गणपती को 'गुड़गणेश' नाम प्रदान कर हमारे गणेशजी का 'लकड़ी-गणेश' नामाभिधान कर गौरव किया।' यह कहकर नवयुवक ने वाक्य की समाप्ति की।

मैंने सभ्यता-पूर्वक कहा—'आपने दोनों गणेश फिर से एकत्र हों इस सम्बंध में कोशिश क्यों नहीं की?'

'अजी हजार बार कोशिश की गई। लोकमान्य ने समझाया, फूट से भारतवर्ष बरबाद हो चुका है। आपस की फूट को नष्ट कर दो। परांजपेजी ने तो यहाँ तक कहा कि जब तक दोनों गणेशजी एक नहीं हो जायेंगे मैं भाषण देने ही नहीं आऊँगा। कालूराम मनसाराम, रामनारायण सेठ, गंगाराम फेलाराम सभी बड़े बड़े लोगों ने कहा, समझाया किन्तु गुड़-विक्री-संघ ने नहीं माना और हमारे गणेशजी के सामने ही अपने गणेशजी की स्थापना कर दी। हमारा प्रोग्राम देख वे उसे हीन कर देने के लिये अपना प्रोग्राम नियत करते हैं। जिस दिन हम श्रीमान आचार्य अत्रेजी को भाषण देने के लिये निमंत्रित करते हैं उसी दिन को वे सुन्दर जान कर जलसे का प्रोग्राम रखते हैं।' लाल किनार की धोती वाले बोले।

यह सुनकर तो मैं बहुत ही घबराया। भय से कलेजा मुँह को आने लगा।

'यदि मेरे भाषण के समय गुड़-विक्री-संघ की ओर से उसी समय कोई तगड़ा आकर्षक प्रोग्राम रखा गया तो...' मैंने बहुत ही विनय-पूर्वक यह बात डेप्युटेशन के सम्मुख रखी।

'हमारे पास उसका भी अचूक उपाय है महाशय। गुड़-विक्री-

संघ के सभासद ने यदि आपके भाषण के समय इस प्रकार कोई नाटक किया तो हम उसकी धज्जियाँ बिखेर देंगे। हम भी कम नहीं हैं श्रीमान्!' अब तक एक शब्द भी न बोलने वाले एक महाशय ने गर्जना की।

मैंने इस पर भी भाषण देने में आपत्ति की और अपने सुझाव उनके सामने रक्खे।

कहा—एक तो मैं नितान्त अप्रसिद्ध और साधारण मनुष्य हूँ। दूसरे मैं विद्वान नहीं हूँ। और तीसरे किसी भी विषय का मैंने विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया है।

मेरे सुझाव डेप्यूटेशन के सभासदों ने तत्काल रद्द कर दिये। नम्बर एक के सम्बंध में उन्होंने कहा कि आपसे भी गये-बीते और मूर्ख वक्ताओं के भाषण इससे पूर्व कई बार हमारे उत्सव में हो चुके हैं। नम्बर दो के सम्बंध में वे बोले—उत्सव में जो भाषण किया जाता है वह विद्वत्ता के लिये नहीं होता लोकप्रियता के लिये होता है। नम्बर तीन के सम्बंध में उन्होंने कहा कि आपने अब तक जो सांसारिक प्रयोग किये हैं वे अध्ययन से भी अधिक मूल्यवान हैं। जनता को उनसे परिचित कराना अत्यंत आवश्यक है।

अन्त में मैंने जाना स्वीकार कर लिया। 'हमारी वर्तमान परिस्थिति' विषय पर भाषण देना भी मंजूर कर लिया। लकड़ी-व्यापारी-संघ के निमंत्रण के कार्यक्रम में लिखा गया था 'हास्यरस के आचार्य श्री चिम्मनलाल चतुर्वेदी का 'हमारी वर्तमान परिस्थिति' पर सुश्राव्य व्याख्यान होगा।'

मेरा व्याख्यान जिस दिन व जिस समय होने वाला था उसी दिन मेरा व्याख्यान आरम्भ होने के आध घंटे बाद गुड़-बिक्री-संघ के उत्सव का प्रोग्राम था 'शृंगारशास्त्र-निपुण शतावरी देवी का 'सुशिक्षित कुमारिकाएँ और विवाहित पुरुष' विषय पर भाषण।'

गुड़-बिक्री-संघ के इस आकर्षक कार्यक्रम को देख मेरी कमर बैठ

गई। कुमारी शतावरी देवी की तोप की गर्जन के सम्मुख मेरे तमंचे की फिट फिट श्रोताओं को रिझा न सकेगी। उसने जिस विषय पर बोलना स्वीकार किया था वह भी मेरे विषय से कितना अधिक आकर्षक था। शतावरी देवी के आकर्षक भाषण को ठुकरा मेरा नीरस भाषण सुनने एक भी श्रोता नहीं आयेगा—मुझे भय था। गुड़-विक्री-संघ के सदस्य बड़े धूर्त थे। उन्होंने मेरे प्रोग्राम के आध घंटे बाद शतावरी देवी का भाषण रखने में बड़ी बुद्धिमता का परिचय दिया था। इसका साफ मतलब यह था कि लकड़ी-बिक्री-संघ का कार्यक्रम शुरू होते ही लोग वहाँ कम आयें और मेरा नीरस भाषण दस पाँच मिनट सुन मेरी ओर नाक-भौं सिकोड़ तथा लकड़ी-गणेशजी की अवहेलना कर कुमारी शतावरी देवी का आकर्षक भाषण सुनने गुड़गणेशजी की ओर चलते बने। और मेरा भाषण अरण्य-रुदन सिद्ध हो।

मैं दोनों कार्यक्रम की पत्रिकाएं लेकर व्यवस्थापक के पास गया। वे गंभीरता-पूर्वक बोले—'आप घबराइये नहीं महाशय! कुमारी शतावरी देवी का कार्यक्रम इसी समय बम्बई में निश्चित हुआ है। वे तो साफ इनकार ही कर चुकी थीं लेकिन जब गुड़-विक्री-संघ के सभासदों ने बहुत अनुनय-विनय की तब उन्होंने बाध्य होकर भाषण देने का वचन दिया है। किन्तु सच जानिए महाशय, मुझे पता लगा है कि वे निश्चित समय से पूर्व ही सब की नजर बचाकर बम्बई चली जायेंगी।'

जब भाषण देना निश्चित हो गया तो उसके अध्ययन का काम भी मैंने आरम्भ कर दिया। लोकमान्य तिलक के व्याख्यानों को पढ़ना आरम्भ किया। उनका एक भाषण मुझे बहुत जँचा और वही मैंने रट लिया। रोज रात में भोजनादि से निपट कर मैं एक दरी बिछाता। अध्यक्ष महोदय के स्थान पर तकिया रखता और सभी बच्चों को सामने बिठा वह भाषण पढ़ने लगता। पाँच छः दिन में वह भाषण मुझे कण्ठस्थ हो गया।

अंत में भाषण का दिन आ गया। समय होते ही मैं घर से बाहर निकला तो देखा शतावरी देवीजी सज-धज कर कहीं जा रही हैं। मैंने कहा, 'कहिये देवीजी आज तो आपका प्रोग्राम बम्बई में है न ?'

'बम्बई में ? नहीं जी मेरा भाषण आज यहीं होने वाला है शाम के साड़े छः बजे से। गुड़ के गनेशजी की गुड़ से ही आरती उतारने का मेरा विचार है। हिः हिः हिः ! मैं अध्यक्ष महोदय के यहाँ जा रही हूँ। उनको साथ लेकर समय पर पहुँचने का मेरा विचार है। आप भाषण सुनने अवश्य ही पधारिये चम्पतलाल जी।' इतना कर देवीजी बिजली की भाँति वहाँ से लोप हो गईं।

मेरा भाषण ठीक साढ़े पाँच का घंटा बजते ही आरम्भ हो गया। प्रथम संघ के व्यवस्थापकों ने प्रोफेसर हवलदार को अध्यक्ष-स्थान पर विराजित होने की प्रार्थना की। अध्यक्ष महोदय स्थानापन्न हुए और उन्होंने मेरा परिचय उपस्थित जनता को करा देने के बदले अपने ही गुण-गौरव गाना आरम्भ कर दिया। अंत में उन्होंने भाषण देने के लिये कहा। मैं टेबिल के पास अध्यक्ष महोदय की बाईं ओर जाकर खड़ा हो गया। 'वक्रतुंडमहाकाय' यह संस्कृत श्लोक पढ़ गणेशजी की प्रार्थना की और भाषण देना आरम्भ कर दिया—'अध्यक्ष महोदय तथा उपस्थित सज्जनवृंद ! आप एक अल्पबुद्धि, क्षुद्र और अपरिचित वक्ता का भाषण सुनने अपना अमूल्य समय नष्ट कर यहाँ पधारे हैं यह मैं अपना बहुत बड़ा गौरव समझता हूँ। क्योंकि गुड़ के गणेशजी के उत्सव में सुप्रसिद्ध लेखिका और वक्ता कुमारी शतावरी देवी का एक आकर्षक विषय पर भाषण होते हुए भी आप उसकी अवहेलना कर यहाँ आये यह मेरा बहुत बड़ा सत्कार है। इसमें सन्देह नहीं।'

'अजी कुमारी शतावरी देवी तो बम्बई का निमन्त्रण स्वीकार कर वहाँ चली गई हैं। यहाँ उन्हें मिलता भी क्या ! वहाँ सेकण्ड क्लास

का भाड़ा मिलने की उन्हें पूरी पूरी उम्मीद है। समझे महाशय !' एक श्रोता ने क्रोध से कहा।

'नहीं, नहीं, आपका कहना झूठ है। कुमारी शतावरी देवी यहीं हैं और उनका भाषण अभी थोड़ी देर बाद गुड़-बिक्री-संघ के गणेशजी के सन्मुख होने वाला है।' मैंने भी जोर से कहा।

'फिर से नोटिस बाँटने का मतलब क्या था। ?' इतना कह कर एक विद्यार्थी ने एक नोटिस मेरे सामने पटक कर कहा। मानो वे नोटिस मैंने ही बाँटी थीं।

उस नोटिस में लिखा था—

आवश्यक सूचना

'कुमारी शतावरी देवी आज एक आकस्मिक कार्य से बम्बई चली गई हैं। अतएव उनका कार्यक्रम नहीं हो सकेगा। यह सूचित करते हुए हमें अत्यन्त दुःख है।'

मैंने पढ़ा और आवेश से कहा—'बिलकुल झूठ है यह। अभी पन्द्रह मिनट पूर्व कुमारी शतावरी देवी मुझे मिली थीं उन्होंने स्वयम् मुझसे कहा था कि मैं गुड़ के गणेशजी की गुड़ से ही आरती उतारने जा रही हूँ। यह हस्तपत्रिकाएँ किसी बदमाश ने उनके कार्यक्रम में बाधा उत्पन्न करने के लिये छपवाई मालूम होती हैं।'

यह सुनते ही उपस्थित जनता उठकर खड़ी हो गई। सभी आपस में कहने लगे—'अजी तो चलो वहीं चलें। सम्भव है यह आम लकड़ी बिक्री-संघ वालों ने ही गुड़-बिक्री-संघ से जलकर उनका प्रोग्राम बिगाड़ने के लिये छपवाई हो।' 'अच्छा हुआ इस भोले वक्ता ने समय पर कुमारी जी के यहीं होने की सूचना दी वरन् इन्हीं का नीरस भाषण सुनना पड़ता।' धीरे धीरे सभागृह खाली होता गया। मैं, अध्यक्ष प्रो० हवलदार और सेक्रेटरी दौलतराम सेठ बस ये तीनों ही उस सभागृह में शेष रह गये।

मैंने अपना भाषण फिर आरम्भ किया—'आज मैं श्री गणेशजी की सेवा करने यहाँ आया हूँ। चाहे एक भी श्रोता यहाँ न रहे मुझे इसकी जरा भी परवाह नहीं है। जब तक प्रो० हवलदार जैसे विद्वान्, बहुश्रुत गुणग्राहक, देशाभिमानी, भाषाभिमानी श्रोता यहाँ उपस्थित हैं उसे श्रोताओं के अभाव की जरा भी परवाह नहीं है।'

अपने भाषण का इस प्रकार आरम्भ कर मैंने अध्यक्ष महोदय की कुर्सी की ओर देखा तो वह खाली पड़ी थी। वे भी पीछे के पीछे सटक गये थे।

रह गये सेक्रेटरी दौलतरामजी, सो उनकी आँखों से अग्नि-वर्षा हो रही थी। वे चिल्लाकर बोले—'वाह, महाशयजी वाह! आप भी खूब अक्लमंद हैं। वाह! गुड़-बिक्री-संघ का कार्यक्रम रद्द करने के हमारे सारे प्रयत्न आपने धूल में मिला दिये। अब आप भाषण देने का कष्ट न उठाइये। ये दो बताशे लीजिए और तशरीफ ले जाइये। मैं भी जा रहा हूँ कुमारी शतावरी देवी कैसी क्या है यह देखने। जय गोपाल।'

घर आने पर श्रीमतीजी ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, 'भाषण कैसा हुआ? भीड़ कितनी थी? भीड़ देखकर आप घबराये तो नहीं। हार नहीं पहिनाया गया आज आपको?' मैंने एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। सीधा अपने कमरे में जाकर एक आराम कुर्सी पर लेट गया और बीड़ी के धुएँ के साथ-साथ मेरी दुर्दशा का दुःख भी अनन्त में विलीन होने लगा।

× × ×

कुछ दिनों के अनन्तर सितारा के साहित्य-वर्धक-समाज की ओर से शारदीय साहित्य-माला में एक फूल पिरोने के लिये मैं निमंत्रित किया गया। भाषण का दिन रविवार नियत कर मैंने समाज को स्पष्ट रूप से लिखा कि यदि मुझे कम से कम रेलवे के तीसरे दर्जे का भाड़ा आप दे सकें तो मैं भाषण देने आ सकूँगा अन्यथा नहीं। समाज

की ओर से तत्काल उत्तर आया, 'महाशय यह साहित्य-सेवा है। हम आपको दे ही क्या सकते हैं, किन्तु फिर भी सभी को इण्टर का भाड़ा देने का हमारे समाज में नियम है। इस नियम के अनुसार आपको भी इण्टर का भाड़ा दिया जावेगा। अवश्य ही पधारिये।'

चलते समय हमारे साहबजादे साहब सुमतिलाल ने साथ चलने के लिये हठ किया। हमने बहुत कुछ समझाया फिर भी वे किसी प्रकार भी अपना हठ वापिस नहीं ले सके न अपनी सुमति का परिचय देकर यथा नामः तथा गुणः की कहावत चरितार्थ कर सके। तब बाध्य होकर उन्हें भी साथ लेना ही पड़ा और शाम को ५ बजे सतारा पहुँच गये। स्टेशन पर मेरा स्वागत करने के लिये व्यवस्थापकजी दो तीन स्वयंसेवकों के साथ उपस्थित थे। डिब्बे से उतरते ही मेरे गले में माला पहिनाई गई और हम सेक्रेटरी के घर पर ले जाये गये। समाज के सभी सभासदों ने हम से भेंट की और आनन्द व्यक्त किया। रात को नौ बजे व्यवस्थापकजी ने कहा—'मैं भाषण का इन्तजाम करने पहले जा रहा हूँ। साढ़े नौ बजे ताँगा आवेगा। आप उसमें बैठकर सभा स्थान पर पधारिये।'

ठीक साढ़े नौ बजे ताँगा आया। मैं और सुमतिलाल ताँगे में बैठ कर सभा-स्थान की ओर चल पड़े। भाषण देने की व्यवस्था दूसरी मंजिल पर की गई थी। मेरे भाषण का विषय 'हमारे आज के कर्तव्य' था। पूना के लकड़ी-गणेशजी के सम्मुख देने के लिये जो भाषण 'हमारी वर्तमान परिस्थिति' नामक मैंने रट लिया था उसे यहाँ भी बिना किसी पशोपेश के कह देने का मेरा विचार था। ऐसा करने में मुझे यह संतोष था कि अनेक सुप्रसिद्ध वक्ताओं का ही मैं अनुकरण तथा अनुसरण कर रहा हूँ।

एक विद्वान प्रोफेसर नामी वक्ता हैं। अपने भाषणों से उन्होंने खूब प्रसिद्धि भी प्राप्त की है। उनकी लोकप्रियता सुप्रसिद्ध है अतएव उन्हें

भाषण देने के लिये सभी जगह निमंत्रित किया जाता है। अनेक विषयों पर वे धारा-प्रवाह बोल सकते हैं। एक बार मैं भी उनका भाषण सुनने गया। उनके भाषण का विषय था 'प्राचीन भारतीय स्त्री-रत्न' मुझे वह भाषण बहुत ही पसन्द आया और दूसरे दिन भी दूसरी जगह उनका भाषण सुनने गया। उस दिन उनके भाषण का विषय था 'कालिदास की नायिकाएँ' विषय-प्रतिपादन के प्रारम्भ के पश्चात् कल का ही सारा भाषण मुझे सुनाई देने लगा। वे ही शब्द, वे ही वाक्य, वे ही बातें जरा भी फर्क नही। पाँच छः मास के पश्चात् उनका भाषण बेलगाँव में हुआ। उसका समाचार अखबार में छपा था और भाषण भी। 'स्त्रीत्व का आदर्श' इस विषय को लेकर महाशयजी ने वही भाषण फिर दे दिया था। कुछ दिन पश्चात् उन्हीं प्रोफेसर महोदय ने एक पुस्तक 'भारत का गत वैभव' नामक प्रकाशित कराई। मैं उस पुस्तक को पढ़ने के लिये उत्सुक हो उठा। लाइब्रेरी जाकर ले आया और पढ़ने लगा, तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। उसी भाषण का शब्द-पट मेरी आँखों के सम्मुख था।

इतने बड़े विद्वान प्रोफेसर के विचारों का पिष्टपेषण जब समाज में पच जाता है तथा श्रोताओं को भी कुछ आपत्ति नहीं होती तब मेरे जैसे कलम घिसने वाले मामूली क्लर्क से ताजे विचारों की आशा करना मेरे साथ अन्याय करना ही है।

भाषण का समय हो गया था। डिप्टी साहब आदि 'बड़ों' के पधारते-पधारते साढ़े दस बज गये। श्रीमान फाटक मास्टर को सभापति बनाया गया। सभापति महोदय उठकर खड़े हुए। उन्होंने कहा—'आज के वक्ता का नाम कौन नहीं जानता। उनकी योग्यता से सभी परिचित हैं। मराठी की चौथी कक्षा की किताब में इनका लिखा एक पाठ है इसी से इनकी विद्वत्ता का पता लग सकता है। इससे अधिक वक्ता महोदय का परिचय और क्या हो सकता है। आज के सभापति...'

एक श्रोता चिल्लाकर बोल उठा—'आज के सभापति श्रीमान स्वयं ही हैं।'

सभापतिजी ने अपनी दंतपंक्ति की थोड़ी झलक दिखाकर कहा—'ओह सारी, आइ मीन वक्ता महोदय। श्रीमान, हाँ आपका नाम क्या है?'

मैंने अपना नाम बताया।

'ओ यस मि० चतुर्वेदी—आज के वक्ता मि० चतुर्वेदी बहुत नामी वक्ता हैं। महाराष्ट्र के आद्य बाल-सेना के गणों में से आप एक हैं और आपकी समाज-सेवा प्रसिद्ध है। ऐसे नामी वक्ता का भाषण सुनने के लिये आपका हृदय लालायित और कान सतर्क हो उठे होंगे। मैं वक्ता महोदय से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना भाषण आरम्भ करें।'

मैं उठकर खड़ा हो गया। भाषण को आरम्भ करने के पूर्व श्रीगणेशजी का ध्यान कर रहा था कि एकदम 'कहाँ हैं वे राय साहब। बड़े लेक्चर देने वाले बन गये। ताँगे वाले के पैसे देने तक की जिनमें ताकत नहीं है। वे बयाख्यान दे रहे हैं। बड़े बयाख्यान वाले! पहले अपना मन तो सुधारो तब लोगों को उपदेश दो।' आदि बक-बक करता हुआ ताँगे वाला हण्टर फटकारता हुआ मेरे सम्मुख खड़ा हो गया।

श्रोता-समाज में कोलाहल मच गया—'अरे ओ, निकल यहाँ से! यहाँ क्यों आया है?' सभी चिल्ला उठे।

'किसके बाप का डर है यहाँ अपने को। मेरे पैसे दे दीजिए मैं अभी चला जाऊँगा। जब तक पैसे नहीं दिये जावेंगे लेक्चर नहीं हो सकेगा।'

इस प्रकार चेलेंज देकर वह श्रीगणेशजी की ओर पीठ और हमारी ओर मुख कर एक हाथ पीठ पर रख, चाबुक बगल में दबा, दाहिना पैर आगे और बायाँ पैर पीछे रख, पैंतरा बदल अकड़ कर खड़ा रहा।

व्यवस्थापक पैसे अदा करेंगे इस आशा से मैं इधर उधर देखने लगा किन्तु वे न जाने कहाँ भटक गये थे। कुछ पता नहीं चलता था। अंत में मैंने अपनी जेब से छः आने निकाल कर ताँगे वाले को प्रदान किये और उसे विदा किया। इस प्रकार संकट-निवारण कर मैंने अपने भाषण को भी प्रारम्भ किया। प्रथम वहाँ उपस्थित सभी गणमान्य व्यक्तियों की कृतज्ञता प्रकाशन कर मैंने अपना भाषण 'स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं मातृभूमि का ऋण चुकाने का महान कार्य उत्साही युवकों का है। हम तो पके पत्ते हैं कब गिर पड़ें—' इस प्रकार प्रारम्भ किया। मैंने लोकमान्य का समग्र भाषण ज्यों का त्यों कह सुनाया। सब को मेरी निर्भयता पर बहुत आश्चर्य हुआ। अन्त में मैंने कहा—'आज के नवयुवको! स्वदेश का उद्धार तुम्हारे सहयोग के बिना होना असम्भव है। हम लोगों की आशा तुम्हीं हो। अतएव हमें निराश न कीजिए यही हम तुमसे भीख माँगते हैं। इस प्रकार लोकमान्य के शब्दों में ही मैं अपने आज के भाषण को समाप्त करता हूँ।' तालियों के प्रचंड शब्दनाद के साथ मेरा भाषण समाप्त हो गया। सच जानिये मेरा भाषण अत्यंत तेज और उद्‌बोधक हुआ।

श्रोता-समाज से एक नवयुवक उठकर खड़ा हो गया और मेरी ओर देखकर बोला—'वक्ता महोदय ने श्री पूज्यवर लोकमान्य जी के भाषण की चोरी की है। ये महाशय एक घंटे तक लोकमान्य का भाषण ही मुखाग्र बोल रहे थे।'

मैंने शान्ति-पूर्वक कहा—'मैंने प्रारम्भ में ही कह दिया था कि लोकमान्यजी कहते हैं और अंत में भी मैंने स्पष्ट रूप से यही कहा कि इस प्रकार लोकमान्यजी का कहना है तब आप ही बताइये यह चोरी किस प्रकार हुई। लोकमान्यजी जैसे सार्वजनिक नेता के सार्वजनिक भाषण किसी एक की बपौती नहीं है। मैं, आप सभी उन अमूल्य शब्दों के वारिस हैं। बाप की संपत्ति का उपभोग करने वाले पुत्र पर

चोरी का आरोप लगाना किस वृत्ति का दिग्दर्शन है यह कहने की आवश्यकता नहीं है।'

श्रोता-समाज ने तालियों से फिर एक बार मेरे प्रति आदर व्यक्त कर सम्मति प्रकट की। सभापति महोदय को अब दो शब्द कहने का फिर समय आ गया था किन्तु वे टेबिल पर पैर पसार कर खर्राटे मार रहे थे। व्यवस्थापकजी ने उनके कंधों को हिलाकर जगाया। वे एक-दम चौंककर उठ खड़े हुए और बोले—'आज के नामी सभापतिजी... आय मीन वक्ता महोदय श्री चतुर्वेदीजी ने जो सुश्राव्य भाषण दिया उसका मैं सब की ओर से अभिनन्दन करता हूँ।' आदि आदि।

रात के बारह बज गये थे। सुमतिलाल फर्श पर चारों कोने चित्त सो रहा था। मेरे भाषण की तारीफ करते हुए सभी अपने अपने घर चले गये थे। मैंने व्यवस्थापकजी से कहा—'मुझे दो बजे जाने वाली मेल से पूना जाना ही होगा मैं किसी प्रकार भी रुक नहीं सकूँगा।'

व्यवस्थापकजी ने कहा—'किसी प्रकार आप आज तो रुक ही जाइये।'

इस पर मैंने आपत्ति की—'नहीं नहीं, मैं किसी भी प्रकार रुक नहीं सकूँगा। सुबह दस बजे मुझे आफिस जाना है। छुट्टी मिली नहीं, मिलेगी भी नहीं। सरविस जाने का अंदेशा है। मुझे स्टेशन जाने के लिये एक तांगा मँगवा दीजिये। हाँ, और देखिये इन्टर का आने-जाने का भाड़ा भी प्रदान कीजिए।' संकोच को एक ओर रख मैंने कहा।

इस पर व्यवस्थापकजी ने कहा—'अरे हाँ, ऊफ बड़ी भूल हुई। आप रहेंगे इस खयाल से मैं भाड़े के पैसे साथ नहीं ला सका। दस मिनट ठहरिये मैं अभी तांगा भी लाता हूँ और पैसे भी।' इतना कह व्यवस्थापकजी रफूचक्कर हो गये।

थोड़ी देर बाद एक वृद्ध महाशय बगल में बिस्तरा दाबे वहाँ पधारे

और वहीं बिस्तर बिछाने लगे। मेरे लिये ही सोने की व्यवस्था की जा रही है यह सोच मैंने कहा—'मुझे दो बजे की मेल से पूना जाना है, व्यवस्थापकजी गये हैं ताँगा लाने।'

'कौन, अनोखे गया है ताँगा लाने ? वाह अनोखे ही जो ठहरा। घर जाकर सो गया होगा वह कभी का। एक न एक अनोखा काम करने का आदी है वह। आप उसकी बातों में न लगिये। नीचे सड़क पर खड़े रहिये और ताँगे की राह देखिये। हम सब सोने के लिये राह देख रहे हैं। अजी यह कमरा हमने उत्सव के लिये दिया है। इसका मतलब यह तो नहीं कि हम रोजाना जागते ही रहें ! तबियत भी खराब होने आई, रोज जागते जागते। हाँ चलो रे, सोहन, मोहन, मुन्ना, पुतु, नन्हे की अम्मा ! चलो अपनी अपनी चटाई ले आओ और यहाँ बिछाओ !'

वृद्ध महाशय का यह कहना एक प्रकार से मुझे वहां से कूच करने की नोटिस ही थी। हम दोनों पिता पुत्र बाहर आ गये। बाहर रिमझिम पानी बरस रहा था। व्यवस्थापकजी की पन्द्रह मिनट और राह देखी किन्तु उनका पता नहीं था। रात के साढ़े बारह बज गये थे। दो बजे की मेल पकड़नी थी। गाँव से स्टेशन तीन मील दूर था। रास्ते में सन्नाटा था। अंधकार भयानक था। किसी प्रकार गिरते पड़ते, ठोकरें खाते मोटर स्टैंड पर आ गये और मोटर का दो दो आना भाड़ा चुकता कर हम स्टेशन पर आये।

स्टेशन पर तो आ गये किन्तु एक नया ही संकट हमारे सम्मुख मुँह बाये खड़ा था। व्यवस्थापकजी जाने-आने का भाड़ा देंगे इस पर विश्वास कर मैं साथ में अधिक पैसे नहीं लाया था। अब पूना का टिकट किस प्रकार खरीदा जाय यह महान समस्या थी। मेरी जेब में दो पैसे थे। सुमतिलाल की जेब की खानातलाशी लेने पर उसकी जेब में चार आने बरामद हुए। हम बिना टिकट ट्रेन में सवार हो

गये। पूना के स्टेशन पर सुमतिलाल भीड़ में से सटक कर स्टेशन के बाहर हो गया और समयसूचकता तथा तत्परता से वह दो प्लेटफार्म टिकट ले आया। सुमतिलाल की इस 'सुमति' पर मैं बहुत खुश हुआ। मेरी इज्जत बन गई। हम दोनों घर आ गये।

तब से व्याख्यान देने का निमन्त्रण आने पर मैं जाने-आने का भाड़ा पहले ही वसूल कर लेता हूँ। और इस नियम की मैं सख्ती से पाबन्दी करता हूँ। अपने वक्ता मित्रों को मैं हमेशा यही कहता रहता हूँ कि देखो भाई भाड़ा पहले ही वसूल कर लिया करो। भाड़ा लिये बिना घर से बाहर पैर रखना मुसीबत में फँसना है।

एक बार मैंने सोचा कि इस बार भाषण का विषय कोई गम्भीर होना आवश्यक है। उस समय शहर में एक जगह एक व्याख्यान-माला के कार्यक्रम हो रहे थे। उस माला में मैं भी शरीक हो गया। व्याख्यान के कार्यक्रम प्रतिदिन नदी के किनारे एक शिवजी के मंदिर में हो रहे थे। दूसरे ही दिन मंदिर की दीवार पर लिखा था 'सुप्रसिद्ध हास्य-विशेषज्ञ श्रीयुत महामहोपाध्याय पंडित चम्पतलाल जानी का हास्य-तुषारों से भरे भाषण का विशेष कार्यक्रम।' मेरा नाम तथा उसके पीछे पूँछ की तरह लगाये गये विशेषणों को पढ़ मेरा धैर्य छूटने लगा। वहीं विशेष सूचना में बड़े बड़े अक्षरों में और भी लिखा था, 'साथ में अमृतधारा अवश्य ही लावें क्योंकि हँसते हँसते पेट दर्द करने की अधिक सम्भावना है।' मेरी गंभीर विषय पर भाषण करने की अभिलाषा पर तुषारपात होकर मेरा रहा-सहा साहस भी नामशेष हो गया।

नियोजित सभापति महोदय श्री पाषाणमल पत्थरिया ने परिचय कराया—'आज के वक्ता महा महापराक्रमी महापुरुष हैं (हँसी) उन्होंने स्काऊट क्रान्ति में जिस प्रकार पराक्रम किया है उसी प्रकार अपनी भगिनी का विवाह निश्चित करते समय भी क्रान्ति मचा दी। वे एक श्रीमान् के घर गोद लिये गये हैं किन्तु उन्हें सोने की ईंटों से भरी

सन्दूकों के बदले पत्थरों की ईंटों से भरी दो सन्दूकें किस प्रकार मिलीं यह भी आपको विदित है ही। आज ऐसे गुणवान् वक्ता (हँसी) आपके सामने खड़े हैं और उनके भाषण का प्रत्येक शब्द हँसी का एक-एक फव्वारा है। अब मैं उस हास्योत्पादक आनन्दोत्सव का आनन्द लूटने से आपको अधिक देर तक वंचित रखना नहीं चाहता। मैं तो केवल इतनी ही प्रार्थना करूँगा कि आप कोई हँसे नहीं!' (हँसी और तालियाँ)।

मैं गंभीर विषय पर भाषण देना चाहता था और उसकी भूमिका इस प्रकार होती देख मैं चकित हो गया। फिर भी निराश नहीं हुआ। श्रोता-समाज की मनोभूमि गंभीर विषय की ओर आकृष्ट करने की गरज से मैंने भाषण को आरम्भ किया—'मित्रो, भाइयो, बहनो! सभापति महोदय ने मेरे भाषण से हँसी के फव्वारे छूटेंगे ऐसा आपको अभिवचन दिया है, किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ आज का विषय बड़ा गंभीर है।'

किन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। श्रोता-समाज ने समझा आज के विषय को गम्भीर कहना ही एक हँसी है और सभी हँसते हँसते लोटपोट हो गये। हास्य कोलाहल कम होते ही मैंने फिर कहा—'धर्म के नाम पर तीव्र मतभेद प्रदर्शित किया जा रहा है। धर्म पर प्राणों की बलि चढ़ा देना आवश्यक है ऐसा उपदेश देने वाले लोग अनेक हैं, तो उसके विरुद्ध धर्म अफीम की गोली है यह प्रतिपादन करने वाले भी अनेक हैं।'

यह सुनते ही सभी फिर हँसने लगे। धर्म सम्बंधी अनेकों उद्धरण तथा सुभाषित ज्यों ज्यों मैं कहने लगा, लोग अधिक से अधिक हँसने लगे और तालियाँ पीटने लगे। वे समझे धर्म को विडम्बना के रूप में पेश किया जा रहा है। तब मैंने भी सोचा कि अब गम्भीर बोलना व्यर्थ है। मैंने भाषण का प्रवाह बदल दिया। हास्योत्पादक चुटकुले

कह कर मैंने उपस्थित जनता को खूब हँसाया किन्तु गम्भीर विषय पर भाषण देने की मेरी अभिलाषा मर गई थी और मैं मन ही मन उदास हो गया था।

अपना एक अनुभव और सुना कर यह लम्बा लेख समाप्त करूँगा। एक बार शिशिर व्याख्यान-माला में 'साहित्यिक लोकमान्यता' नामक प्रचण्ड विषय पर मेरा गम्भीर भाषण होने वाला था। भाषण की व्यवस्था एक थियेटर हाल में की गई थी क्योंकि टिकट लगाया गया था। बिना टिकट अन्दर आने की मनाही थी। मैं थियेटर हाल में घुसने लगा तो एक स्वयंसेवक ने मुझे रोक कर टिकट माँगा। मैंने कहा—'अजी मेरा ही भाषण होने वाला है और मुझसे ही आप टिकट माँगते हैं वाह।'

इस पर स्वयंसेवक गुर्राया—'यह देखने का काम हमारा नहीं है। हमें यही आज्ञा दी गई है कि बिना टिकट किसी को अन्दर नहीं जाने देना। बस आप बिना टिकट अन्दर नहीं जा सकते।'

अपने भाषण में स्वयम् टिकट खरीद कर जाना मुझे उचित नहीं जँचा मैं उलटे पैर घर लौट आया।

अब आप ही बताइये कि इस प्रकार इस शरारती कला की आराधना करना कहाँ तक उपयुक्त है? मैंने तो उसे हमेशा के लिये तिलाञ्जलि दे दी है।

इनामी घोड़ा

गरमी की छुट्टियों में मैं एक बार बहादुरगंज में अपने मामा के यहाँ कुछ दिन के लिये गया था। एक दिन हम दोनों संध्या समय घूमने निकल पड़े। गाँव के बाहर एक लम्बी-चौड़ी सफेद क़ब्र देख मैंने आश्चर्य से मामाजी से पूछा—'मामाजी, इस बहादुरगंज के निवासी बहादुरी के साथ साथ खूब लम्बे-चौड़े ऊँचे-पूरे भी जान पड़ते हैं।'

'क्यों, तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?'

'यह कब्र ही देखो कितनी लम्बी चौड़ी है।'

'अरे, इस कब्र के आकार-प्रकार को देख तुम कह रहे हो ?' मामा मुस्कराये और बोले—'तुम्हारा अनुमान गलत है क्योंकि यह कब्र मनुष्य की न होकर घोड़े की है।'

'घोड़े की ! आप यह क्या कह रहे हैं मामाजी ? कहीं घोड़े की भी कब्र बनाई जाती है और यदि ऐसा होता है तो वह क्यों ? क्या किसी युद्ध में आपकी रियासत के नवाब साहब के प्राण इस घोड़े ने बचाये थे ?'

'नहीं, नहीं, सो बात नहीं है। न कोई युद्ध लड़ा इस घोड़े ने, न किसी नवाब साहब के प्राण बचाये; किन्तु शारीरिक सुन्दरता की प्रतियोगिता में इस घोड़े ने सौ घोड़ों को हरा कर पहला नम्बर प्राप्त किया था इसलिये नवाब साहब ने इसकी कब्र बनवाई।'

'अच्छा यह बात है !' मेरा समाधान हो गया था अतएव मैं चुप रहा किन्तु मामाजी ने भी फिर कहा—'अरविन्द, बताओ इस घोड़े के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या अनुमान है ?'

'मेरा ?'

'हाँ, हाँ, तुम्हारा।'

'मेरी तो यही कल्पना है कि यह घोड़ा सो घोड़ों में सब से अधिक हृष्ट-पुष्ट, सबसे अधिक सुन्दर, सबसे अधिक चपल रहा होगा इसीलिए वह सर्वोत्तम था।'

'ऊँहुँः, तुम्हारी कल्पना यहाँ भी चूक गई। अरे अरविंद, यह घोड़ा जो इस कब्र में गाड़ा गया है सबसे दुबला, हड्डियों का ढाँचा मात्र होने पर भी सर्वोत्तम समझा गया।'

'नहीं, नहीं, यह असंभव है। नितान्त असम्भव है मामाजी!'

'तुम्हें यह बात असम्भव प्रतीत होगी इसमें आश्चर्य नहीं। किन्तु मैंने जो कुछ कहा वह बिलकुल सोलह आना सच है। इतना ही नहीं अरविन्द, जिस दिन यह घोड़ा सर्वोत्तम ठहराया गया उसी रात वह भूख से तड़-फड़ कर मरा।'

मामाजी के कहने पर मेरा विश्वास नहीं जम रहा था। मेरी आँखें अस्पष्ट रूप से कह रही थीं कि आप कुछ तो भी कह रहे हैं मामाजी। वे मेरी आँखों का भावार्थ समझ गये और बोले,—'अरविन्द, तुम मेरे कहने पर विश्वास नहीं कर रहे हो, यह मैं जानता हूँ फिर भी मैं दृढ़ता-पूर्वक कहता हूँ कि यह बात सोलह आना सच है—बिलकुल एक सत्य घटना है। यह सारी कार्रवाई उस तरबूजा पहलवान की है। उसके लुच्चेपन की अनेक मनोरंजक कथाएँ हमारी रियासत में प्रचलित हैं। रियासत के निवासी इन मनोरंजक कथाओं को हर्षपूर्वक सुनाते हैं। चलो, हम उस टीले पर बैठें वहाँ मैं तुम्हें यह घटना सुनाता हूँ।'

टीले पर बैठने पर मामाजी ने सुनाना आरम्भ किया —

'बीस पच्चीस वर्ष पूर्व की यह कहानी है। उस समय बहादुरगंज की रियासत के तख्त पर मरहूम समशेरजंग बहादुर मेजर सर सिरसलामत उल्लु मुल्क नवाब थे। हमारे वर्तमान नवाब साहब के पिता। उन्हें घोड़ों का बड़ा शौक था। पोलो खेलना उन्हें अत्यन्त प्रिय था।

हमारे बहादुरगंज में यह जो सामने का पोलो का मैदान है, उन्होंने ही इसे विशेष रूप से अपने लिये तैयार कराया था। सच जानो अरविन्द, सारे भारतवर्ष में ही नहीं, स्वेज नहर के पूर्व तक इस पोलो ग्राऊण्ड सा सुन्दर दूसरा नहीं है। यह अनेक जजों का निष्पक्ष मत है। विशेष रूप से पोलो खेलने के लिये ही इंग्लैंड और अमेरिका से बड़े बड़े लार्ड और करोड़पति बहादुरगंज आते थे। अश्व-विद्या में हमारे नवाब साहब की शान का एक भी आदमी उस समय नहीं था और न आज ही है। कौन उनका हाथ पकड़ सकता था इस विद्या में? घोड़ों पर उनका अत्यन्त प्रेम था। घुड़साल संगमरमर की बनी हुई थी और उनके घोड़ों की इतनी देख-रेख रखी जाती थी कि जनता मज़ाक में कभी कभी कहने लगती 'यदि पुनर्जन्म हो तो बहादुरगंज में घोड़े का ही जन्म लेना चाहिये मनुष्य का नहीं।' एक प्रकार से यह सत्य भी था। राज्य की अधिकांश प्रजा आधे पेट भूखी ही रहती थी। किन्तु घोड़ों को चने तथा विलायती घास भी अजीर्ण हो जाता था। जानवरों के अस्पताल में अजीर्ण रोग की दवाइयाँ मनों में खप जाती थीं। बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े शहरों में होने वाली घुड़दौड़ों में हमारे राज्य के घोड़े भी दौड़ते थे और कहीं एकाध घोड़े ने मैदान मार लिया कि बस फिर क्या कहना है, राज्य में पुत्र-जन्म का सा उत्सव मनाया जाता था।

मरहूम नवाब साहब की प्रतिक्षण यही इच्छा रहती थी कि रियासत के घोड़ों का दर्जा भारतवर्ष में सब से ऊँचा रहे और रियासत की प्रतिदिन कीर्ति वृद्धिगत होती रहे। जब कि नवाब साहब का यह हाल था तो उनके मुसाहिब भी इस ओर विशेष ध्यान देते थे तथा रात-दिन घोड़ों की उन्नति के सम्बन्ध में सोचते रहते थे। देश-परदेश से उत्तमोत्तम घोड़े खरीद कर लाये जाते, उनकी वैज्ञानिक पद्धति से जाँच कर उनका पालन-पोषण भी वैज्ञानिक पद्धति से किया जाता था।

एक बार नवाब साहब ने एक अजीब प्रतियोगिता का आयोजन किया। सौ घोड़े सौ सरदारों को दिये गये। घोड़े की खुराक आदि के लिये सौ मोहरों से भरी एक थैली भी दी गई। एक महीने के अनन्तर जिस सरदार का घोड़ा सर्वोत्कृष्ट ठहरेगा उसे पाँच सौ मोहरों का इनाम दिया जाने वाला था। स्वयं नवाब साहब, वजीर तथा काजी साहब की एक कमेटी भी निर्णय के लिये कायम की गई थी।

इस प्रतियोगिता से सारे शहर में हलचल मच गई। सभी शहर के निवासी अश्व-परीक्षा-दिवस की कुतूहल-पूर्वक राह देखने लगे।

जिन जिन सरदारों ने घोड़ों की इस प्रतियोगिता में भाग लिया वे अपने अपने घोड़ों की साज-सँभाल अपने प्राणों से भी अधिक करने लगे। किसी ने अश्व-विशेषज्ञ की देख-रेख में घोड़े को रख कर उसकी साज-सभाल का विशेष आयोजन किया। कोई उसे घी-मलीदा खिलाने लगा। कोई-कोई दो-दो, तीन-तीन साईस रखकर घोड़े की मालिश और खुर्रा कराने लगे। जैसे-जैसे परीक्षा का दिन करीब आता गया घोड़े खूब तैयार, हृष्ट-पुष्ट, चमकीले दीखने लगे। उनको देख-देखकर आने-जाने वाला प्रत्येक नागरिक कहता उफ् घोड़ों के निर्णय में परीक्षक-मंडल को वास्तव में बड़ी कठिनाई होगी क्योंकि हर एक घोड़ा एक दूसरे से बढ़कर है। और यह बात सही थी। वास्तव में प्रत्येक घोड़ा, दूसरे घोड़े से मस्त और पुष्ट प्रतीत होता था। उनकी ओर देखने वालों को आभास होता कि बिना हड्डी के शरीर वाले घोड़ों की एक नवीन जाति बहादुरगंज में निर्माण हुई है क्या?

अपने-अपने घोड़ों को हृष्ट-पुष्ट करने में प्रत्येक सरदार जहाँ तल्लीन था वहाँ तरबूजा पहलवान का खाका कुछ और ही था। प्रत्येक सरदार अपने-अपने घोड़े की खिलाई-पिलाई जान झोंककर कर रहा था, तो पहलवान तरबूजा महाशय अपने घोड़े की वैज्ञानिक रूप से उपवास-चिकित्सा करा रहे थे। इस कब्र के नीचे जिस घोड़े की

हड्डियाँ दफनाई गई हैं वही घोड़ा तरबूजा पहलवान ने घोड़ा प्रतियोगिता में से छाँट कर बड़े ही अभिमान और उत्साह से लिया था।

अंत में प्रतियोगिता दिवस आ ही गया। इसी पोलो ग्राऊन्ड पर उस दिन दरबार का शानदार आयोजन किया गया था। उधर पूर्व की तरफ एक बड़ा शामियाना खड़ा किया गया था। रियासत के सभी अमीर उमराव दरबारी पोशाक में उपस्थित थे। जनता की उपस्थिति को देखते हुए प्रतीत होता था कि बहादुरगंज की आधी से अधिक जनता वहाँ एकत्रित हो गई है। प्रतियोगिता में भाग लेने वाला प्रत्येक सरदार अपने अपने घोड़े का शृंगार कर वहाँ लाने लगा। सच मानो अरविन्द, उफ् कितने सुन्दर, मस्त और नयनाभिराम थे वे घोड़े! जब वे अकड़ कर चलते तो प्रतीत होता उनके पैर जमीन पर नहीं टिक रहे हैं—हवा पर चल रहे हैं। हर एक घोड़े को चार-चार साईस संभाल रहे थे। उनकी पीठ इतनी मांसल तथा चौड़ी थी कि तिल भी उन पर नहीं ठहर सकता था। उनके हिनहिनाने से समस्त वातावरण प्रकम्पित हो उठा तथा खुरों की धूल से वायुमंडल धूमिल हो गया था।

बाहर दरबारी बैंड बजने लगा। सब उपस्थित जनता ने अनुभव किया कि नवाब साहब तशरीफ ला रहे हैं। नकीब की ललकार के साथ ही नवाब साहब तशरीफ ले आये तथा एक उच्च सिंहासन पर विराजमान हो गये। नवाब साहब का स्वागत करने के लिये सभी सरदार उठकर खड़े हुए फिर नवाब साहब का इशारा पाकर अपनी अपनी जगह पर बैठ गये। नवाब साहब की बाईं ओर वज़ीर बैठे थे तो दूसरी ओर काजी साहब जिनके एक ही शरीर में राजगुरु, धर्मगुरु, सर न्यायाधीश की आत्माओं का समावेश था, बैठे थे। उन्होंने अपने राजगुरु, धर्मगुरु, सर न्यायाधीश के उत्तरदायित्व के भार को वहन करने वाले मस्तिष्क को एक सफेद साफे से ढक लिया था। उनकी पवित्र देह पर एक ढीला

कुरता था और चूड़ीदार तंग पाजामा पहिने थे। उनकी ठिगनी, गोलमटोल मूर्ति देखते ही सभी आदर से सिर झुका देते थे, किन्तु जब कोई भी उन्हें निरखकर देखता तो 'मियाजी मुट्ठीभर और दाढ़ी हाथभर' की कहावत चरितार्थ होती देख मुँह को रूमाल लगा मुस्कराने लगता तथा कुतूहल पूर्वक उनकी सफेद लम्बी दाढ़ी की ओर देखता ही रहता। ठोढ़ी की नोक तथा गालों के टीलों पर से उगम पाकर इस समय भव्य पेट के विस्तृत मैदान में खिलवाड़ करने वाली अपनी प्रिय दाढ़ी को दाहिने हाथ से वे सहला रहे थे। मानो उन्हें मन ही मन आनन्द हो रहा था कि उनके मानसिक साम्राज्य में सर्वत्र आनन्द-मङ्गल है।

सब ओर शान्ति होते ही नवाब साहब ने शहर कोतवाल की ओर देखकर पूछा—'क्यों कोतवाल साहब, सब घोड़े आ गये!'

'जी, ग़रीबपरवर! लेकिन—'

'लेकिन, लेकिन क्या?'

'सब घोड़े आ गये लेकिन एक घोड़ा नहीं आया। निन्यानवे घोड़े हाजिर हैं खुदावन्द!'

'क्या कहा? निन्यानवे घोड़े ही हाजिर हैं? फिर सौवाँ घोड़ा कहाँ है? क्यों नहीं आया वह अब तक?' नवाब साहब के स्वर में क्रोध स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। 'कौन ले गया है वह घोड़ा? पकड़ कर ले आओ उसे मेरे सामने।'

'जी हुजूर!' कह कर कोतवाल तीन बार कोर्निश कर चला गया।

इस अनपेक्षित घटना से शामियाने में गंभीर कोलाहल आरम्भ हो गया। घोड़ा ले जाकर आज यहाँ न लाने वाला कौन पागल होगा वह अथवा उस घोड़े का कुछ बुरा-भला हो गया है। वह जो कुछ हुआ होगा, होता रहे। नवाब साहब क्रोधित हो गये हैं उसे अवश्य ही सजा दी जावेगी। सभी एक दूसरे से इस प्रकार बातचीत करने लगे।

थोड़ी देर बाद ही कोतवाल, उनके पीछे पकड़कर लाया हुआ एक

मोटा-ताजा आदमी, उसके पीछे दो नंगी तलवारें लिये क्रूर सिपाही इस प्रकार एक छोटी जमात ने शामियाने में प्रवेश किया। सभी उचक-उचक कर, आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे कि घोड़ा न लाने वाला यह है कौन ? और जब सब की नजर उस मोटे-ताजे व्यक्ति की ओर गई तो सबके मुख से अचानक आश्चर्य भरे स्वर में निकल गया, कौन, तरबूजा पहलवान ?

तुम्हें आश्चर्य होगा अरविन्द कि उस व्यक्ति को 'तरबूजा' पहलवान क्यों कहते थे। वास्तव में उसका नाम यह नहीं था। और सच तो यह कि उसका नाम क्या है यह भी कोई नहीं जानता था। वह इतना मोटा था कि उसके इस मोटेपन को देखकर बहादुरगंज के निवासियों ने उसे 'तरबूजा पहलवान' की उपाधि प्रदान की थी। सभी उसे जानते थे। वह पहलवान था लेकिन अब वह अपनी पहलवानी के बदले बदमाशी से ही अधिक प्रसिद्ध था। उसके जैसा बदमाश और झूठा रियासत में कोई नहीं था, राज्य के सभी निवासियों का यह प्रामाणिक विश्वास था। उसने हजारों चोरियाँ की थीं, हजारों की जेबें काटी थीं। हजारों अपराध उसने किये थे; किन्तु पुलिस उसे नहीं पकड़ सकी थी। तरबूजा पहलवान और झगड़ा ये दोनों शब्द हमारे राज्य में समानार्थी समझे जाने लगे थे। तब सभी की आँखें अब आगे क्या होता है, किस प्रकार कौन सा प्रसंग उपस्थित होता है इधर लगी हों तो आश्चर्य नहीं। सब लोग साँस रोककर आनेवाले प्रसंग की प्रतीक्षा करने लगे।

दरबार की यह मनःस्थिति थी किन्तु एक व्यक्ति इसमें अपवाद-स्वरूप भी था। तरबूजा को देखते ही उस व्यक्ति के मुख पर घृणा, क्रोध आदि के भाव आविर्भूत हो गये। कपाल रेखाओं का एक जाल सा बन गया। वह व्यक्ति और कोई नहीं काजी साहब थे। रियासत में उनके अनेक ओहदे थे ही, अतएव अनेक प्रकार से उनका साबका तरबूजा से पड़ा

था। शिक्षा-मंत्री की हैसियत से तरबूजा से उनका कोई सम्बन्ध न था यह सच है, किन्तु धर्मगुरु के नाते उनका सम्बन्ध तरबूजा से कई बार हो चुका था। तरबूजा नमाज नहीं पढ़ता था। रोज संध्या समय शराब पीता था। उसके इस धर्महीन बर्ताव पर काज़ी साहब ने उसे कई बार उपदेश दिया, समझाया, सब कुछ किया किन्तु औंधे घड़े पर पानी की तरह वे उपदेश, वे सारी नसीहतें बह गईं। तरबूजा 'सूखा' ही रहा। धर्मगुरु के नाते उपदेश देने पर वह 'सूखा' रहा अवश्य किन्तु बड़े न्यायाधीश के नाते काजी ने उसे 'सूखा' न रहने दिया था। एक बार पड़ोसी की मुर्गियाँ चुराकर खा जाने का इलजाम लगा कर पुलिस ने उसे काजी साहब के सम्मुख पेश किया था। सभी जानते थे कि यदि काजी साहब ने कोई कड़ी सजा तरबूजा को दी तो वह उनसे किस प्रकार और कैसा बदला लेगा इसका निश्चय नहीं। अतएव काजी साहब को सभी ने समझाया कि इसे कोई कड़ी सजा न दी जाय, किन्तु न्याय-दान जैसे पवित्र कार्य में किसी की सलाह न मानने वाले काज़ी साहब ने तरबूजा को दस कोड़े लगाने की सजा दे ही दी। तब इससे चिढ़कर तरबूजा ने प्रतिज्ञा की 'काजी साहब, संभल कर रहिये। इस तरबूजा पहलवान से काम पड़ा है। तुम्हारी दाढ़ी यदि मैं न उखाड़ूँ तो मेरा नाम तरबूजा नहीं।'

लाहोल विलाकूवत! काजी साहब की दाढ़ी का अपमान! बहादुरगंज रियासत के न्यायाधीश की दाढ़ी का अपमान! उसके यह शब्द सुनते ही काजी साहब आगबगूला हो गये उन्होंने क्रोधावेश में और पाँच कोड़े लगाने की सजा सुना दी।

इतना कड़ा दंड देने पर भी काजी साहब का समाधान न हो सका था। उपर्युक्त घटना को घटित हुए कई वर्ष बीत गये। तब से अब तक काजी साहब के शरीर में चमड़ी के नीचे कितनी ही अनावश्यक चर्बी एकत्रित हो गई थी। उनकी वह अपमानित, प्रिय दाढ़ी अब काली

न रहकर सफेद हो चुकी थी। काजी साहब से उसका वियोग कराने की दुष्ट तरबूजा की भ्रष्ट प्रतिज्ञा खुदावन्द करीम की कृपा से सफल रूप से सत्य नहीं हो सकी थी। अब वह प्रतिज्ञा पूरी हो सकेगी इसमें भी सन्देह ही था। किन्तु काजी साहब उन भ्रष्ट शब्दों को भूले नहीं थे। वे शब्द तीर की तरह उनके हृदय में जा चुभे थे और अब वे दर्द का अनुभव करते थे। अपनी प्रिय सहचरी दाढ़ी के अपमान का वह प्रसंग काजी साहब आजीवन नहीं भूल सकते थे।

तरबूजा को देखते ही उस प्रसंग की याद उन्हें हो आई और क्रोध से उनका शरीर काँपने लगा था। अपने आप उनके दोनों हाथ दाढ़ी को जोर जोर से सहलाने लगे थे। इतने जोर से कि दो तीन बाल भी टूट कर उनके हाथों में आ गये। उन्हें संतोष था कि इस समय तरबूजा अपराधी के रूप में स्वयम् नवाब साहब के सम्मुख खड़ा है। अब बिना कड़ा दंड पाये वह छूट नहीं सकता।

नवाब साहब के सम्मुख आते ही तरबूजा ने जमीन तक झुककर तीन बार अत्यन्त नम्रता पूर्वक कोनिश की तथा अपने मुख पर लाचारी का भाव प्रदर्शित करता हुआ दोनों हाथ जोड़ खड़ा रहा।

'क्यों रे बेवकूफ! तू घोड़ा ले गया है न?' नवाब साहब के स्वर में कठोरता स्पष्ट थी।

'जी परवरदिगार!'

'फिर आज क्यों नहीं उसे लाया। आज इम्तहान का दिन है यह तो तू जानता है न?'

'मैं तो ला रहा था हुजूर, लेकिन खा-खाकर तथा रगड़-रगड़ मालिश करने से वह इतना बदमाश हो गया है सरकार कि उसे तबेले से बाहर निकलना ही मौत से खेलना है।'

'अच्छा, अच्छा, यह बात है!' नवाब साहब के स्वर में आनन्द की झलक थी।

'जी सरकार ! मेरा घोड़ा इतना तैयार और मस्त हुआ है कि ये निन्यानवे घोड़े उसके सामने चूहे जैसे प्रतीत होंगे।'

'ऐसा !' नवाब साहब के स्वर में खुशी की एक मात्रा और बढ़ गई थी।

'हाँ, हाँ, शाहन्शाह ! मैं क्या सरकार के सामने कभी झूठ बोल सकता हूँ। अभी जब मैं उसे हुजूर के पाक कदमों में हाजिर करने के लिये तबेले में गया तो उसने एक ऐसी जोर की लात मारी कि मैं दस बीस हाथ दूर लुढ़ककर जा गिरा सरकार—अरे मेरी माँ......।' इतना कहकर पीठ में जोर की चमक निकलने का अभिनय कर वह थोड़ा नीचे झुका और फिर दोनों हाथ पीठ पर रखकर मुँह को करुणापूर्ण बना नवाब साहब की ओर देखने लगा।

'हाँ' नवाब बहादुर विचार करते हुए बोले—'तुम जो कुछ कह रहे हो यह सच है इसका सबूत ?'

नवाब साहब के प्रश्न का जवाब तरबूजा दे भी न सका कि क़ाज़ी साहब अपने तख्त पर से उचक कर खड़े हो गये और बोले—'सरकार, यह तरबूजा बड़ा झूठा और बदमाश है। मैं इसे खूब जानता हूँ। यह जो कुछ कह रहा है इसमें अवश्य ही कुछ बदमाशी है।'

'नहीं, नहीं खुदावन्द ! मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।' हाथ जोड़कर तरबूजा बोला—'मैं फिर कह रहा हूँ सरकार ! घोड़ा अत्यंत तेज और चपल हो गया है। हुजूर, मेरी सत्यता प्रमाणित होने का एक ही साधन है। वह यह है कि किसी को घोड़ा देखने भेज दिया जाय।'

'अच्छी बात है, ऐसा ही किया जायगा।' नवाब साहब ठोढ़ी को सहलाते हुए बोले 'हाँ, पहलवान के साथ कौन जा रहा है ?'

किन्तु कोई जाने के लिए तैयार हो इसके पूर्व ही एक नीति प्रदर्शक कटाक्ष क़ाज़ी साहब की ओर फेंकने का अभिनय कर तरबूज़ा ने कहा—'वजीर साहब को भेजिये अथवा कोतवाल साहब को भेज दीजिये।'

किन्तु काजी साहब दूध पीते बच्चे नहीं थे जो तरबूजा की इस बदमाशी को न ताड़ गये हों। वे तुरन्त समझ गये कि तरबूजा के इस कटाक्ष का अर्थ है कि और किसी को भी भेज दीजिये किन्तु काजी साहब को न भेजिये। लेकिन उसका यह प्रयत्न ठीक भी है क्योंकि मुझसे उसकी पुरानी दुश्मनी है। घोड़े के सम्बन्ध में उसने अवश्य ही कुछ बदमाशी की है, जो मेरे जैसे विद्वान व्यक्ति के ध्यान में ही आ सकती है और कोई उसे समझने की क्षमता नहीं रखता यह बात तरबूजा भी भली भाँति जानता है यही कारण है कि वह मुझे टालने का प्रयत्न कर रहा है। तरबूजा का वह दाँव व्यर्थ कर देने की गरज़ से काजी साहब बोले—'मैं तरबूजा के साथ जाने के लिये तैयार हूँ।'

काजी साहब ने जब तरबूजा की ओर देखा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि वह चौंक उठा है और उसका मुख उदास हो गया है। अपनी कल्पना की सत्यता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

काजी साहब के भाषण से तरबूजा थोड़ी देर घबराया सा दिखा जरूर पर वह झट से संभल गया तथा काजी साहब की ओर देख बोला—'पाक़ काजी साहब, आप क्यों तकलीफ करते हैं? मेरी आपके पाक़ कदमों में गुजारिश है कि मेरा घर बहुत दूर है और जनाब थक जायेंगे।' फिर वह नवाब साहब की ओर मुड़कर बोला—'सरकार, किसी दूसरे को भेज देने से काम चल सकता है।'

तरबूजा उन्हें टालने का प्रयत्न कर रहा है काजी साहब का यह विश्वास अब दृढ़ हो गया। दूसरे किसी को साथ ले जाकर उसे घूस देकर वश में करने का इसका विचार है यह बात भी काजी साहब के ध्यान में आ गई। काजी साहब को ले जाने में वह जितनी अधिक आपत्ति करने लगा उतना ही उसके साथ स्वयम् जाने का आग्रह काजी साहब प्रकट करने लगे।

अंत में काजी साहब का आग्रह नवाब साहब ने मान लिया और

काजी साहब जाने को तैयार हो गये। अत्यंत चिंतित मुखाकृति बना तरबूजा आगे-आगे जा रहा था और विजयी मुद्रा से काजी साहब पीछे-पीछे जा रहे थे। विजयोन्माद मे उनकी छाती फूल उठी थी और पेट से आगे निकलने का प्रयत्न कर रही थी, किन्तु पेट, पेट ही था इसलिए वह उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका था। छाती फूल फूल कर हार गई किन्तु पेट के आगे न निकल सकी।

काजी साहब और तरबूजा तो उधर गये, नवाब साहब और उपस्थित जनता निन्यानवे घोड़े देखने उठ खड़ी हुई।

मार्ग में तरबूजा काजी साहब से बोला—'काजी साहब, मेरा घोड़ा बहुत बदमाश है। आप फिजूल आये, मुझे भय है कि कहीं वह जनाब को एकाध लात न मार दे।'

'अच्छा, अच्छा, मालूम है।' काजी साहब ने अकड़ कर कहा। 'तेरा घोड़ा बदमाश है या कैसा है यह तो बाद में देखा जायगा। परन्तु तुम जरूर बदमाश हो। देखना यह है कि इस बार तुमने कौन सी बदमाशी की है।'

'काज़ी साहब, आप न आते तो बहुत ही अच्छा होता।'

'फिजूल बकवाद न करो तरबूजा! मैं तुम्हारी रग-रग से वाकिफ़ हूँ। तुम बदमाश और नापाक हो। तुमने मुझे टालने की बहुत कोशिश की किन्तु मैं तुम्हारी बदमाशी जान गया। मेरे सामने तुम्हारी चाल-बाजियाँ नहीं चल सकतीं समझे! मुझे वह दिन अब तक याद है जब तुमने मेरी दाढ़ी का अपमान किया था। अच्छा अब चुपचाप चलो फ़िजूल बकवाद न करो।'

'अच्छा साहब, जैसी आपकी मर्जी।' इतना कह तरबूजा ने एक करुणापूर्ण उसाँस ली और अपने घर की ओर चलने लगा। काज़ी साहब तरबूजा की हालत पर तथा उसे शिकंजे में कसने की खुशी पर मन ही मन खुश होते हुए उसके पीछे-पीछे जा रहे थे।

उसकी बदमाशी खुलकर सामने आते ही उसे किस प्रकार, कितनी कड़ी सजा देकर अपनी दाढ़ी के अपमान का बदला लिया जाय इन विचारों के उधेड़बुन में खोये-खोये वे तरबूजा के घर की ओर चले जा रहे थे।

एक मास पहले प्रतियोगिता का घोड़ा तरबूजा अपने घर ले गया था। एक हाथ में घोड़े की लगाम तथा एक हाथ में सौ मोहरों से भरी थैली लेकर जिस समय वह घर जा रहा था उस समय उसके मस्तिष्क के सजग ज्ञानतन्तु विशेष रूप से कार्य करने लग गये। पाँच सौ मुहरों का इनाम प्राप्त कर ये सौ मोहरें भी किस प्रकार हजम हो सकेंगी यह तरकीब सोच निकालना कोई आसान काम नहीं था। सौ मोहरों को पचाने का थोड़े में मतलब था घोड़े को भूखों मारना और घोड़े को भूखों मारने का मतलब था पाँच सौ मुहरों के ईनाम को खोना। किन्तु तरबूजा पहलवान के मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु साधारण नहीं, असाधारण थे। उसने तुरन्त भविष्य का कार्यक्रम निश्चित किया और तरबूजा के मुख पर शरारत भरी संतोष की हँसी झलक उठी।

घर आते ही तरबूजा ने एक छोटे से कमरे में उस घोड़े को बाँध दिया और संध्या होने तक उसको खिलाना पिलाना तो दूर, उसकी ओर देखा तक नहीं। उस कमरे में जमीन से पाँच फुट की ऊँचाई पर एक खिड़की थी। रात होने पर उसी खिड़की से तरबूजा ने सूखे घास की एक पिण्डी अन्दर फेंक दी। प्रतियोगिता के दूसरे घोड़ों के मालिकों ने उनकी साज-संभाल करने में कोई कसर उठा नहीं रखी थी। उनकी खिलाई-पिलाई, मालिश-खुर्रा, सभी दृष्टि से उन घोड़ों का ठाट राजसी था। ठीक इसके विरुद्ध तरबूजा के घोड़े का हाल था। उस छोटी सी खिड़की से प्रातःकाल एक तथा संध्या समय एक इस प्रकार दो सूखी घास की पिण्डियाँ तरबूजा उस घोड़े की ओर फेंक देता था। अरब कुलोत्पन्न उस श्रेष्ठ जातीय अश्व महोदय ने प्रथम एक दो दिन तक

तो उस घास को सूँघना तो दूर देखा तक नहीं। अश्व महोदय को विश्वास नहीं हो रहा था कि कोई अश्व इस प्रकार के घास का भक्षण कर सकता है। किन्तु पेट की आग मानव के स्वाभिमान को नष्ट कर देती है फिर बेचारे घोड़े का स्वाभिमान कब तक टिक सकता था। दो तीन दिन तक मलिदा और चंदी की राह देख बाध्य होकर अरब कुलोत्पन्न वे अश्व महोदय प्रातःकाल तथा संध्या समय प्राप्त होने वाली उन दो पिंडियों से ही अपने पेट की आग बुझाने का प्रयत्न करने लगे। बस यही उनकी खुराक थी। खुराक का जब यह हाल था तो मालिश और खुर्रा की बात करना ही व्यर्थ है।

दिन पर दिन व्यतीत हो रहे थे और अश्व महोदय अपने दुर्भाग्य पर उस कारावास में आँसू बहा रहे थे। कभी वे बाहर की खुली हवा का स्वाद न ले सके, न कभी कोई व्यायाम उन्हें कराया गया। शरीर पर बैठी मक्खियाँ पूँछ से उड़ाना ही उनकी कसरत थी। उसी प्रकार प्रातःकाल होते ही एक पिण्डी तथा संध्या समय दूसरी पिण्डी की राह देखते रहना यही उन अश्व महोदय का दिन भर का कार्यक्रम था। अपने दुर्भाग्य के दिन कब समाप्त होंगे इस पर विचार करते करते अश्व महोदय पागल हो उठते और उनका मस्तिष्क कोई निर्णय नहीं कर पाता था।

एक-एक दिन बीत रहा था उसके साथ ही अश्व महोदय का राजसी रूप भी विनष्ट होता जा रहा था। धीरे-धीरे मांस सूख कर उसकी जगह हड्डियाँ उभर आई थीं। तथा झुर्रियाँ भरी चमड़ी उन पर चिपकी थी। एक मास की समाप्ति तक तो केवल हड्डियों का हिलता डुलता एक पिंजर ही शेष रहा। अश्व महोदय के राजसी रूप का वह अवशेष देख कोई भी दो आँसू बहा देता।

प्रतियोगिता के निर्णय के दिन तो उस घोड़े का दुर्भाग्य चरम सीमा पर पहुँच गया। नित्य की भाँति उस दिन भी प्रातःकाल मिलने

वाली उस सूखी घास की पिण्डी की राह देखते देखते वह थक गया धूप भी निकल आई। सूर्य मध्य आकाश में आ गया किन्तु घास की पिण्डी का आभास मात्र भी खिड़की में नहीं दिखाई दिया। आज ऐसा क्यों हुआ ? आज मेरे मालिक को क्या हो गया है ? हे ईश्वर, वह कहीं बीमार तो नहीं हो गया। या पिण्डी देने की बात ही उसके ध्यान से उड़ गई, या वह कहीं बाहर किसी गाँव में चला गया ? या अब नित्य दो पिण्डियाँ देने के बदले अब केवल नित्यप्रति एक ही पिण्डी देने का उसका विचार है। जैसे जैसे दिन चढ़ने लगा वैसे वैसे घोड़े के पेट की भूख की आग अधिकाधिक भड़क उठी। भूख की वेदना उसे असह्य हो उठी। वह संतप्त हो गया, ज़ोर ज़ोर से हिनहिनाने तथा दीवाल पर दुलत्तियाँ झाड़ने लगा।

इसी समय काजी साहब को लेकर तरबूजा पहलवान वहाँ आ गये। उसी समय घोड़ा जोर से हिनहिनाया तथा दो तीन बार दुलत्तियाँ भींत पर झाड़ दीं। तरबूजा ने कहा—'क़ाज़ी साहब, सुना आपने, घोड़ा बहुत मस्त हो गया है। उसे सँभालना मेरे बस की बात नहीं रही है। मैं तो अब उससे घबरा गया हूँ। लगता है क्यों जान आफत में डाल दी।'

घोड़े का हिनहिनाना, उसकी दुलत्तियों की आवाज तथा तरबूजा का कहना तीनों ने मिलकर क़ाज़ी साहब के हृदय में भय का संचार कर दिया। घोड़ा बहुत मस्त है, तरबूजा का यह कहना उन्हें सत्य प्रतीत हुआ। उन्होंने यह भी सोचा कि जरा सँभल कर घोड़े के नज़दीक जाना चाहिये। फिर भी जरा अकड़ कर बोले—'हाँ शेखी तो वह अवश्य ही कर रहा है। कोठरी का दरवाजा कहाँ है ?' उनके चेहरे पर चिंता की रेखाएँ स्पष्ट रूप से उदित हो उठीं। तरबूजा की नज़र से यह बात छिपी नहीं रही।

'नहीं, नहीं,' तरबूजा बोला—'दरवाजा खोलकर अन्दर जाना

मौत को बुलाना है। दरवाजा खोलते ही वह बिगड़ उठेगा। जैसे-तैसे मैं ही केवल बड़ी मुश्किल से अन्दर जा सकता हूँ। मेरे भी साथ अगर दूसरा कोई अन्दर गया तो वह उसकी जान ले लेगा।'

'यह बात है! तब तो बड़ी मुसीबत है, फिर उसे देखा किस तरह जाय?'

'उसकी एक ही तरकीब है। इस कोठरी में एक खिड़की है उसी से आप अन्दर झाँक कर देखें।'

स्वरक्षा की दृष्टि से काजी साहब को तरबूजा का कहना पसन्द आया। उन्होंने यह भी सोचा कि सम्भव है घोड़ा मस्ती में आकर कमरे के अन्दर घुसते ही दुलत्तियाँ झाड़ने लगे, कमरा छोटा पड़ा, कहीं एकाध दुलत्ती...नहीं, नहीं, कमरे में जाना उचित नहीं। फजीहत करा लेने में क्या रखा है—घोड़ा है भी असल में उधमी और बद-मारा। वे खिड़की की ओर जाने लगे।

मनुष्य की आहट पा घोड़ा अपनी भूख की व्यथा जतलाने की गरज़ से और भी ज़ोर से हिनहिनाने लगा। पाँव की आवाज जैसे जैसे कमरे के निकट आती गई घोड़ा कान खड़े कर खिड़की से देखने लगा। अंत में मालिक को मेरी सुधि आ ही गई। अब खिड़की से वह सूखे घास की पिण्डी कब आती है और कब उसे मैं खाऊँ। वह बड़ी उतावली तथा उत्सुकता से आँखे फाड़-फाड़ कर खिड़की की ओर देखने लगा।

पैरों की आवाज़ जैसे जैसे निकट आती गई घोड़े के प्राण एकत्रित हो आँखों की राह खिड़की से पिण्डी आने की राह देखने लगे। कब पिण्डी अन्दर आती दीखती है और उसे पकड़ कर कब खींचता हूँ तथा नोच नोच कर खाता हूँ। घोड़ा मन ही मन सोचने लगा। और खिड़की के सामने पैंतरे से खड़ा हो गया। रोज की तरह आज भी खिड़की पर एक छाया आती उसे दिखाई दी। उसके अनन्तर

पिण्डी —सूखे घास की, भूरे रंग की वह घास की पिण्डी—खिड़की से अन्दर आती दिखाई दी। एक क्षण का भी विलम्ब न करके उसने अपने दाँतों से कसकर उसे पकड़ लिया और खींचने लगा। दो-तीन झटके देने पर भी जब वह अन्दर नहीं आई तो और ज़ोर से खींचने लगा। लगातार झटके देने पर भी जब पिण्डी अन्दर नहीं आई तो घोड़े को बहुत ही आश्चर्य हुआ। मालिक ने पिण्डी लाकर खिड़की में रख दी फिर भी उसे क्यों छोड़ नहीं रहे हैं यह उसकी भी समझ में नहीं आ रहा था। वह संतप्त हो गया और क्रोधावेश में और भी जोर जोर से झटके देने लगा।

दस पाँच क्षण ही यह खींचातानी चली होगी। खिड़की के पास घोड़े को देखने के लिये खड़े काजी साहब चीत्कार कर उठे—'अजी पहलवान दौड़िये, दौड़िये घोड़े ने मेरी दाढ़ी पकड़ ली। आह, आह, खुदावन्द बचाओ—पहलवान मैं मरा जा रहा हूँ। यह घोड़ा नहीं, शैतान है।'

जब पिण्डी पूर्णतया खिड़की से अन्दर नहीं आती दिखाई दी तो घोड़ा और भी क्रोध से संतप्त हो गया। वह सपूर्ण बल एकत्रित कर उसे अन्दर खींचने के लिये जोर जोर से झटके देने लगा। प्रत्येक झटके के साथ काजी साहब का पाक मुख खिड़की के लोहे के छड़ों से टकराने लगा। वे तिलमिला उठे। कराहने लगे। चीत्कार करने लगे। उनका वह कराहना और चीत्कार घोड़े ने भी सुना किन्तु उसने पूर्ण निश्चय कर लिया था कि कुछ भी होता रहे दिन भर की भूख सहने के बाद, ओंठों के निकट आया यह भोजन नहीं छोड़ूँगा! नहीं छोड़ूँगा। बड़ी देर तक काजी साहब की पाक दाढ़ी की यह रस्साकशी चलती रही। घोड़ा और काजी—दोनों में से किसी के हारने के आसार नजर नहीं आ रहे थे। चिल्ला चिल्ला कर काजी साहब का गला बैठ गया। रोयें-रोयें से पसीना फूट निकला।

इस भयानक खींचातानी में उनके दाढ़ी के बाल टूट रहे थे और उनके दोनों गुदगुदे गालों से खून बह रहा था।

तरबूजा यह तमाशा देखता एक ओर चुपचाप खड़ा था। काजी साहब की यह दुर्दशा देख उसे हार्दिक आनन्द हो रहा था। उसकी ओर देखते हुए काजी साहब क्रोध से चिल्लाए—'अबे पहलवान के बच्चे, देखता क्या है! मुझे छुड़ा—आह, आह आ—'

काजी साहब का चिल्लाना सुन तरबूजा ने चौंकने का अभिनय कर कहा—'मैंने पहले ही कहा था जनाब कि—'.

'चुप रहो बकवाद न करो—मुझे जल्दी छुड़ाओ, मेरे प्राण जा रहे हैं—'

'अभी लीजिए जनाब, कोशिश करता हूँ।'

इतना कह उसने काजी साहब की विस्तृत कमर को अपने दोनों हाथों से पकड़ ली और पीछे की ओर खींचने लगा। इधर तरबूजा संपूर्ण शक्ति से कमर पकड़ खींच रहा था और उधर घोड़ा अपनी शक्ति भर दाढ़ी पकड़ खींच रहा था। यह अभूतपूर्व दाढ़ी-खिचाई कितनी ही देर तक चलती रही, किन्तु संतोषकारक परिणाम न निकल सका—उलटे काजी साहब की वेदना दुगुनी अवश्य हो गई।

अंत में निराश हो तरबूजा ने काजी साहब को छोड़ दिया और कपाल पर आया पसीना पोंछते हुए बोला—'जनाब, अब खींचने से काम नहीं चलता। इस संकट से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है।'

'कुछ भी करो, किन्तु इस शैतान के चंगुल से मुझे छुड़ाओ। मेरी जान बख्शो। या अल्ला या खुदावन्द आह आह-आ—'

'जनाब, कहा नहीं जाता लेकिन बगैर कहे रहा भी नहीं जाता।'

'अरे बोल बोल मेरी जान निकली—आह...'

'आपकी पाक दाढ़ी काटने से ही आपका छुटकारा हो सकता है।'

'तो काट दे, जल्दी काट पहलवान, दाढ़ी काटने से मेरे प्राण बचते हैं तो उसे काट दो। देखते क्या हो—जाओ दौड़ो—कैंची लाओ और मेरी दाढ़ी काट दो।' काजी साहब अनुनय-विनय के स्वर में बोले।

'छि: छि: काजी साहब, यह पाप मुझसे नहीं हो सकेगा। दाढ़ी काटने का पाप, नहीं नहीं मैं हरगिज यह पाप नहीं करूँगा।'

'अरे, पहलवान तुम्हारे पैर छूता हूँ। मेरी दाढ़ी काट दो—आह आह—अम्माँ—माँ—अब क्या करूँ! अल्लाह—परवरदिगार खुदावन्द करीम दौड़ो मुझे इस शैतान से छुड़ाओ—अब नहीं सहा जाता! पहलवान जाओ—जल्दी एक कैंची ले आओ।'

'जनाबमन्द, मैं आपकी दाढ़ी काट भी देता किन्तु पहले एक बार मैंने केवल इतना ही कहा था कि 'मैं आपकी दाढ़ी खींचूँगा।' तो आपने मुझे पाँच बेंत लगाने की सजा दी। सो जनाब काजी साहब! मैं तो आपकी दाढ़ी कभी नहीं काटूँगा अब यदि मैं आपकी दाढ़ी वाकई काटूँ तो आप मुझे फाँसी पर लटकाने की सजा फरमावेंगे इसलिये मुझे बक्शो—मैं तो यह नापाक काम कभी नहीं करूँगा। आपकी—आपकी पाक दाढ़ी का—अपमान! नहीं नहीं मुझसे यह नहीं होगा।'

घोड़े के दाढ़ी खींचने से जो वेदना काजी साहब को हो रही थी उससे दस गुनी वेदना तरबूजा के इन चुटीले शब्द से हुई। किन्तु बेचारे कर ही क्या सकते थे। तरबूजा के पैर पकड़ने के सिवा दूसरा उपाय नहीं था।

'पहलवान, मज़ाक छोड़ो। मेरे प्राण जा रहे हैं। या अल्लाह—आह खुदा—पहलवान मुझ पर दया करो मेरी दाढ़ी काट दो। आह आह आ—काजी साहब ने तरबूजा की ओर देख हाथ जोड़ कर कहा।

'किन्तु जनाब ने घोड़ा तो अच्छी तरह देख लिया। नवाब साहब को क्या फरमायेंगे घोड़े के बारे में?'

'या अल्लाह यह घोड़ा नहीं, शैतान है। सच जानो पहलवान वह

पाँच सौ मुहरों का इनाम मैं तुम्हें ही दिलवाऊँगा। अभी मुझे इस संकट से छुड़ाओ।'

'सच ?'

'अल्लाह कसम पहलवान सच जानो—भरोसा करो। आह—आह—'

अब अधिक काज़ी साहब का अन्त देखना उचित नहीं है यह सोच तरबूजा एक कैंची ले आया और काज़ी साहब की पवित्र दाढ़ी समूल काट दी। घोड़े के मुँह में दाढ़ी चली गई और काज़ी साहब उस भयानक संकट से छुटकारा पा गये। छुटकारे का एक दीर्घ श्वास उन्होंने छोड़ दिया। तरबूजा काज़ी साहब का बिना दाढ़ी का चेहरा देख मन ही मन खूब खुश हुआ। हँसी के फव्वारे रोके नहीं रुकते थे। उनका चेहरा जब उस पर दाढ़ी विराजती थी कितना गंभीर, कितना रोबदार, कितना प्रभावशाली तथा तेजस्वी लगता था, वही अब कितना रूखा और निस्तेज दीखने लगा था।

दाढ़ी विहीन चेहरा लेकर लोगों के सामने जाने में काज़ी साहब को लज्जा हो आना स्वाभाविक ही था। वे नहीं चाहते थे कि अपना यह विद्रूप रूप लोगों की नजर में आय। अपना दाढ़ी विहीन मुख लोगों की नजरों से किस प्रकार बचाया जाय यह चिन्ता उन्हें खाये जा रही थी। उन्हें लगा अपने साफे में मुँह ढक कर घर जाकर सो रहना सब से अच्छा उपाय है। किन्तु दरबार में जाकर घोड़े के निर्णय की सूचना नवाब साहब को जो देना है—दरबार में तो जाना ही होगा—अन्त में अपना सफेद साफा अपने रक्तरंजित मुँह पर लपेट कर नीची गर्दन किये तरबूजा के पीछे-पीछे वे दरबार में जाने के लिये चल पड़े।

दरबार में पहुँचते ही तरबूजा ने तीन बार झुक कर नवाब साहब को तपाक से कोर्निश की। उसको देखते ही नवाब साहब ने पूछा—

'क्यों क़ाज़ी साहब कहाँ हैं ?'

'सरकार, यह रहे क़ाज़ी साहब।' अपने पीछे खड़े क़ाज़ी साहब की ओर इशारा कर तरबूजा ने कहा।

क़ाज़ी साहब के चेहरे पर दाढ़ी न होने से तथा उन्होंने अपना मुँह साफे में छिपा लेने से प्रथम तो उन्हें किसी ने पहिचाना ही नहीं फिर उनके उस विद्रुप मुख की ओर देख सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। कोई यह नहीं समझ पाता था उनके इस दाढ़ा-वियोग पर हँसा जाय या दो आँसू बहाकर उनको सांत्वना दी जाय।

'क्यों क़ाज़ी साहब, यह क्या हुआ ?' नवाब साहब ने पूछा।

किन्तु क़ाज़ी साहब ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देते भी क्या ?

'और इस तरबूजा का घोड़ा आपने देखा ? उसके सम्बन्ध में आपका क्या निर्णय है ?'

'अरे बाप रे बाप वह घोड़ा ! हजूर उस घोड़े का नाम भी न लीजिए। वह घोड़ा नहीं शैतान है। हुहुहु—' घोड़े के स्मरण मात्र से ही क़ाज़ी साहब को ठंढ लगने लगी। वे कम्पित स्वर में फिर बोले—'वह घोड़ा बहुत मस्त और बड़ा बदमाश है सरकार। यहाँ उपस्थित निन्यानवे घोड़े उसकी पासंग में भी नहीं हैं। इनाम उसे ही दीजिए ग़रीबपरवर।' किसी प्रकार इतना कह वहीं पर कुर्सी पर लुढ़क गये !

इस प्रकार वे सौ मुहरें पचाकर यह पाँच सौ मुहरों का इनाम भी तरबूजा ने लूट लिया।'

मामाजी की कहानी समाप्त हो गई थी। थोड़ी देर बाद मैंने पूछा—'इसके बाद क्या उस घोड़े को किसी ने नहीं देखा ?'

'अरे, देखेंगे क्या ! वह तो उसी रात को भूख से व्याकुल होकर, चिल्ला चिल्ला कर, पैर पटक पटक कर मर गया। तरबूजा ने ताबड़-

तोड़ रात में ही गड्ढा खोदकर गाड़ दिया।'

'किन्तु मामाजी, क्या नवाब साहब ने तरबूजा से यह नहीं पूछा कि इतना मस्त घोड़ा एक रात में ही एकदम कैसे मर गया ?' मैंने पूछा।

'पूछा क्यों नहीं, पूछा अवश्य। किन्तु तरबूजा असाधारण बदमाश था। उसने कहा—'सरकार, उस घोड़े ने काज़ी साहब की पाक दाढ़ी खाने का महान पाप किया था। अतएव पाकपरवरदिगार अल्लाह ने उसे मौत की सजा देकर इन्साफ फरमाया।' इतना कहते ही नवाब साहब और भी खुश हो गये और इस पोलो ग्राऊंड के मैदान के एक कोने में उसकी कब्र तैयार करने की इजाजत दे दी और उसके लिये धन भी दिया।'

'वाह, वाह, तरबूजा भी एक अजीब आदमी था। उसने छः सौ मुहरें भी पचाईं और काजी साहब से पूर्ण रूप से बदला भी लिया।' मैंने उसकी तारीफ की।

'हाँ, वह एक अजीब आदमी था। बड़ा ही लुच्चा और बदमाश। उसकी प्रत्येक हरकत में काजी साहब से बदला लेने की शरारत भरी भावना थी।'

काज़ी साहब को उसने हाथों हाथ खूब बनाया। बेचारे काज़ी साहब दाढ़ी-वियोग में कितने ही दिनों तक आँसू बहाते रहे होंगे। मेरा तो अनुभव है कि कम से कम एक वर्ष पर्यंत—जब तक कि दाढ़ी पहले जैसी नहीं बढ़ पाई होगी—लोगों को वे अपना दाढ़ी-विहीन चेहरा नहीं दिखा सके होंगे।

यह एक बड़ी अच्छी पुस्तक है जो इस किताब को मन लगा कर पढ़ेगा वह आनन्द

बम्बई पर हमला

[परदा खुलते ही चिरपरिचित तबला, हारमोनियम, सारंगी के साथ गाये जाने वाला सुमधुर नमन-गीत सुनाई नहीं पड़ रहा है। उस कर्ण-मधुर स्वर के बदले ए० आर० पी० के भोंपू का तथा हवाई जहाजों की घर्र घर्र की कर्णकटु आवाज रंगभूमि के प्रेक्षकों को सुनाई दे रही है। सूत्रधार और नटी परदा खुलते ही संरक्षण के लिये तलघर में चले जाने से नांदी का कार्यक्रम नहीं हो सका।

परदा पूर्णतया खुलते ही बम्बई का १०×१२ का कमरा दृष्टि-गोचर होता है। दाहिनी ओर की दीवाल में बाहर जाने का मार्ग है। सामने स्टेज के पीछे की ओर लकड़ी का पार्टीशन है। साड़ियाँ, धोतियाँ, पेन्टस, छाते टाँगने के लिये उसका विशेष रूप से उपयोग किया गया है। साड़ियाँ, धोतियाँ, पेन्टस के भार के नीचे दबे महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टेगोर, जवाहरलाल नेहरू, देविकारानी अशोककुमार आदि मिलने वाली बीच की संधों में से बाहर झाँकने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी पार्टिशन के बीच में रसोईघर में जाने का मार्ग है। बाहर के बैठक के कमरे में एक पलंग, एक ड्रेसिंग टेबल, एक लिखने का टेबल बीच में गोल मेज, बड़ी आलमारी, छोटी आलमारी, शीशियाँ रखने के खाने आदि सभी अपनी अपनी जगह पर सुशोभित हैं। इनमे जो कुछ जगह उस कमरे में बच पाई है उस जगह को भी सुशोभित कर कमरे का सौंदर्य बढ़ाने के लिये कुछ जीवित प्राणी बीच बीच में फिट कर दिये गये हैं। उनमें से आप देखेंगे कि सामने के पलंग पर अस्त-व्यस्त, विस्तृत देह आड़ी तिरछी पड़ी हुई है। वे हैं, हमारे नितोपंत गोखले यानी इस कमरे के मालिक। कमरे में घर्र घर्र की आवाज जो आपको सुनाई दे रही है वह हवाई जहाज की नहीं है,

अतएव भय की कोई बात नहीं है। वह घर्र-घर्र की आवाज चितोपंत की कंठ-नलिका से निकला कर्ण-मधुर स्वर है। सामने ड्रेसिंग टेबिल के सम्मुख खड़ी, बालों में कंघा करने वाली मानवी आकृति को 'शरद' के नाम से पुकारा जाता है। ये महाशय चितोपंत के ज्येष्ठ पुत्र हैं और इस समय सिनेमा के किसी गाने की पंक्ति वे गुनगुना रहे हैं। उसकी समाप्ति पर उन्होने एक लम्बा आलाप लिया, वही प्रेक्षकों को ए० आर० पी० के भोंपू जैसा प्रतीत हो रहा है। कमरे में और भी मानवी सटर फटर दिखाई देते हैं, वे सब चितोपंत जी की ही प्रजा हैं जिनके परिचय की आवश्यकता नहीं है।]

चितोपंत—(नींद में) घुर्र, घुर्र, घुर्र, घुर्र...।

शरद—(आइने में देखते हुए) समा जा आ आ, समा जा आ आ आ SSS—।

[बाहर के दरवाजे पर थपकियाँ देकर कोई पुकारता है—प्रधान ! प्रधान, अजी मिस्टर प्रधान ! फिर लगातार—मिस्टर प्रधान है ! प्रधान है क्या घर में ? फिर एकदम जोर जोर से दरवाजा खटखटाने लगता है।]

चितोपंत—(हड़बड़ा कर उठ बैठते हैं) ऊं: कौन है ? अभी जरा आँख लग पाई थी कि यह कौन आ मरा ! अरे शरद ! देख तो कौन चिल्ला रहा है बाहर ? उससे कह दे यहाँ न तो कोई प्रधान रहता है न राजा। यहाँ गोखले रहते हैं गोखले।

[शरद पिता का सन्देशा कहने के लिए दरवाजा खोलता है और आगंतुक फुर्ती से अन्दर चला आता है।]

शरद—आप किसकी तलाश में हैं ? यहाँ प्रधान नहीं रहते।

आगंतुक—मुझे मालूम है।

चितोपंत—(आश्चर्य से) जब तुम्हें मालूम था कि यहाँ प्रधान नहीं रहते हैं तब उनका नाम लेकर मेरे द्वार पर क्यों चिल्ला रहे थे महाशय !

आगंतुक—(बैठने के लिये जगह तलाश करने के हेतु इधर उधर देखते हुए) क्यों चिल्ला रहे थे ? आश्चर्य है इतनी मामूली बात भी आप नहीं समझ सके। अजी अनजान घर में प्रवेश के लिये किसी भी नाम से पुकारना यह आजकल का नियम है समझे ! इस दादर में प्रभु कायस्थ ही अधिक संख्या में रहते हैं और उनमें प्रधान नाम है 'वामन'। अतएव जहाँ कहीं भी जाता हूँ प्रधान का नाम लेकर पुकारने लगता हूँ समझे। (चिंतोपंत के पास ही पलंग पर अपना अजस्र देह फैलाकर) अरर ओह ! बिलकुल थक गया महाशय, (पैर तानकर लेट जाता है)।

चिंतोपंत—(हतबुद्ध विस्मित होकर उसकी ओर देखते हुए) किन्तु मेरे घर में घुसने का कारण ?

आगंतुक—कहता हूँ महाशय, जरा ठहरिये। (चिंतोपंत के एक लड़के की ओर देख कर) मुन्ने, जाओ बेटा जरा पीने के लिये पानी तो ले आओ। (मुन्ना जाने लगता है) और देखो भाभी से कहना यदि चाय का समय हो तो एक कप पानी और बढ़ा दे समझे ! हाँ, अब हम अपना कार्य आरम्भ करें। (जेब में से एक कागज बाहर निकाल कर) महाशय, मैं पूछता हूँ उन प्रश्नों का उत्तर कृपया ठीक ठीक दीजिये। (पढ़ते हुए) पहला प्रश्न—आपकी इस बिल्डिंग में एकाधा ब्लाक या डबल रूम या सिंगल रूम या जीने के नीचे का लकड़ी रखने का कमरा—फिलहाल वही सही—खाली है क्या ? किराये से मिल सकता है ?

चिंतोपंत—(क्रोधावेश में) नहीं है, नहीं है। यदि यही काम है तो........।

आगंतुक—(बीच में ही) ठहरिये, ठहरिये महाशय ! अभी अनेकानेक प्रश्न शेष हैं। प्रश्न दूसरा—आपके आसपास की किसी बिल्डिंग में कोई घर खाली हो, अथवा निकट भविष्य में खाली होने

की सम्भावना है क्या ? अथवा यह जानकारी आपको या आपके घर के किसी भी सदस्य को या आपके मित्रों में से किसी को या मित्रों के मित्रों में से किसी को है क्या ?

चितोपंत (चिल्ला कर) नहीं है, नहीं है, बिलकुल नहीं है ! अब यदि...।

आगंतुक—ठहरिये जनाब ! अब तीसरा प्रश्न (पढ़कर) बम्बई में कहीं भी तुम्हारे मित्र का या मित्र के मित्र का अथवा मित्र के भाई का या मित्र के किसी भी परिचित का कहीं कोई ब्लाक या डबल रूम या सिंगल रूम या जीने के नीचे की जमीन खाली है क्या ? या निकट भविष्य में खाली होना सम्भव है क्या ? यह महत्वपूर्ण खबर तुम्हें या तुम्हारे किसी परिचित को या तुम्हारे घर में ही किसी को है ?

चितोपंत—(बीच में ही जोर से) मेरे घर के किसी भी मनुष्य को या पड़ोसियों को या स्वर्ग के पितरों को अथवा भविष्य में जन्म धारण करने वाले मेरे पुत्र पौत्रादिकों को—किसी को भी ये बातें मालूम नहीं हैं, और भविष्य में भी मालूम नहीं होंगी। अब उठो, नहीं उठते ? उठते हो कि नहीं ? वरना यह फ्लावर पाट तुम्हारे सिर का भेजा बाहर निकाल देगा समझे !

आगंतुक—(घबरा कर उठते हुए) अरे, यह क्या करते हो भाई ? अब एक प्रश्न, केवल एक ही प्रश्न शेष रह गया है। उसे पूछ लेने दो। क्या करूँ भाई, बड़ी परेशानी है। बम्बई में नौकरी लगे चार महीने गुजर गये किन्तु रहने के लिये घर नहीं मिल रहा है। अब नौकरी छोड़ने की बारी आ गई है। इसी लिए तो इतनी बेशर्मी लादनी पड़ी है। कृपया अब एक ही बात और बताइये। आपका यह घर...।

चितोपंत (बीच में ही) खाली नहीं है।

आगंतुक—वह तो मैं देख भी रहा हूँ। किन्तु निकट भविष्य में

कभी भी यह घर छोड़कर जाने का आपका इरादा है क्या ? सम्भव है यदि है तो सब से पहला क्लेम इस घर पर मेरा रहा समझें। आपके घर मालिक को खुश करने के लिये जो कुछ आप कहेंगे देने का मैं पक्का वादा करता हूँ।

[चितोपंत फ्लावर प्लाट उठाते हैं यह देखकर]

आगंतुक—अच्छा, अच्छा भाई, माफ करो। लो यह मैं चला ! (भाग कर जाने लगता है)

चितोपंत—कितना सताते हैं ये लोग। सारा दिन चैन नहीं लेने देते। एक ही प्रश्न—घर खाली है क्या ? घर खाली है क्या ? यह गया वह आया। (इसी समय सामान लादे एक कुली अन्दर आता है और आगंतुक उस पर जा गिरता है। उधर देखते हुए) अरे, यह सामान किसका है ? कौन प्रभाकर पंत !

प्रभाकर पंत—(अन्दर आकर) हाँ, प्रभाकर, प्रभाकर गोविन्द परांजपे तुम्हारा जमाई—अब तो पहिचाना आपने ! (कुली की ओर देखकर) अरे पागल सा खड़ा क्या है ? अन्दर आ।

[सिर पर सामान लादे कुली, उसके पीछे प्रभाकर की पत्नी सुशीला देवी। देवी जी की गोद में एक बच्चा, उँगली पकड़े हुए दूसरा बच्चा और स्वतंत्र रूप से चलने वाला तीसरा बच्चा इस प्रकार यह फौज अन्दर धुसती ही चली आई।]

सुशीला देवी—पिताजी नमस्ते !

चितोपंत—(कपाल पर हाथ मार कर) आखिर तुम आ ही गईं। अच्छा बहुत अच्छा वाह—।

[सुशीला अन्दर चली जाती है। बच्चे बच्चों में मिलकर खेलने लगते हैं।]

प्रभाकर—(कुली से) अरे ओ, देख वह बरतनों का बोरा यहाँ रखने की आवश्यकता नहीं अन्दर ले जा। और यह सन्दूक पलंग के

नीचे सरका दे। क्या कहा? पलंग के नीचे और भी सन्दूकें हैं। अच्छा तो उसे बीच में ही पड़ी रहने दे। जा अब गाड़ी का एक एक सामान ऊपर ले आ।

[कुली गाड़ी में रखा सब सामान ऊपर लाता है]

चिंतोपंत—अरे, यह सामान है कि बला! अभी और कितना सामान है? नासिक से सब का सब संसार ही उठा लाये जान पड़ता है।

प्रभाकर—इसमें आपको शंका या आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है। आप ही सोचिये जब कि मुझे बम्बई में नौकरी लगी है तो मैं अपना संसार बम्बई न लाऊँ तो क्या कलकत्ता ले जाऊँ?

चिंतोपंत—किन्तु मैंने तो आपको पहले ही कह दिया था कि मेरे इस छोटे से घर में तुम्हारी यह इतनी बड़ी फौज ..।

प्रभाकर—आपने कह दिया था और मैंने सुन लिया था किन्तु अपने बाल-बच्चों को दूर रख कर सात महीने तक श्रीराम लाजिंग एन्ड बोर्डिंग हाऊस के कमरे के कोने में रहने की आप पर आफत आयेगी तब उन दुखों का श्रीमान को अनुभव होगा, जो इन सात महीने में मैंने सहन किये हैं। (कुली को) हाँ, वह खाली बक्स उस टेबिल पर रख दे।

शरद—अरे-अरे, यह क्या करते हो! वह टेबिल मेरे पढ़ने का है। वहाँ वह न रखिये।

प्रभाकर—पढ़ने का टेबिल है इसीलिये शायद उस पर किताबों के बजाय सिनेमा, नाटकों के फोटो करीने से सजाये गये हैं क्यों जनाब? अच्छा वह बिस्तर, वह होल डाल, वह गठरी और वह दूसरी सन्दूक कहाँ रखना होगा? (इधर उधर देखकर जरा भी जगह नहीं है यह देखकर कुली से) उँः रख दे वहीं बीच में सन्दूक के पास। और देख अब जो कुछ भी सामान बचा हो वह सब बीच में ही रख दे समझा।

चितोपंत (सामान के ढेर की ओर देखकर) ओफ् ओ, कितना है सामान ! ज़रा सी मेरी जगह और इतना सामान। बैठने को भी जगह नहीं रही।

प्रभाकर—कुछ परवाह नहीं। अब इस घर में बैठना ही नहीं है। खड़े खड़े ही दिन निकालने होंगे और युद्ध समाप्त होने तक यह समझना होगा कि बी० बी० सी० आई० के लोकल में ही प्रवास कर रहे हैं।

शरद—वाह जी वाह, कहाँ बी० बी० सी आई० की लोकल और कहाँ यह कैदखाना ! लोकल के डिब्बे की भीड़ में जिधर देखिये उधर खूबसूरत परियों की भीड़ भी तो होती है जनाब ! तभी हम बेंच पर जगह होते हुए भी भीड़ में जबरदस्ती घुसकर एक दूसरे से सट कर बैठने का मौका प्राप्त करते हैं।

चिन्तोपंत—चुप रहो। बकवाद बन्द करो। (प्रभाकर का एक लड़का ड्रेसिंग टेबिल पर चढ़ने लगता है उसे देखकर) अरे अरे, क्या करता है ! टेबल पर क्यों चढ़ रहा है ! शीशा फूट जायगा तब। राम राम नाक में दम कर दिया साहब इन बच्चों ने ! बड़ी गड़बड़ मचा रक्खी है।

प्रभाकर—गड़बड़ हो या कुछ भी हो। हमारा निवास अब इस घर में ही होगा। और यदि आपको इस गड़बड़ी से छुटकारा पाना हो तो मुझे इस बम्बई में अच्छा सा घर ढूँढ़ दीजिए। जब तक मुझे आप इस बम्बई में अच्छा सा घर नहीं ढूँढ देंगे तब तक मेरी ये पेटियाँ, ये खाली बक्से, ये बिस्तर, ये सन्दूक, ये बच्चे, मैं और मेरी श्रीमतीजी यानी श्रीमान की कन्या—सभी इस घर में अपना अपना आसन जमायेंगे। अरे सुना, मेरा वह सिल्क का कोट—अरे कहाँ चली गईं ! मुझे कोट और...(अन्दर चला जाता है)।

[बंदोपंत का प्रवेश]

चंदोपंत—कहिये चिंतोपंतजी, क्या हो रहा है ? और आपके साथ यह सामान किसका है ?

चिंतोपंत—हमारे जमाई महाशय का है भाई। आज से सात मास पूर्व वे बरमा सेल कम्पनी में बड़े वेतन पर नौकर हो गये हैं। अब तक तो वे एक होटल में अकेले ही रहते थे और बाल-बच्चे रहते थे नासिक में। (इसी समय सुशीला और प्रभाकर चुपचाप उनके पीछे आकर खड़े हो जाते हैं) किन्तु अब वे सब को लेकर आ गये हैं मेरी छाती पर बैठने। किया क्या जाय भाई। ससुर जमाई का रिश्ता जो है। न कुछ कहते बनता है न करते बनता है। किसी तरह कहीं भी इस बम्बई में उनको एक घर ढूँढ़ ही देना होगा। देखो भाई चंदोपंत आप भी कोशिश कीजिए। कोशिश क्या एकाध घर कहीं भी दिला ही दीजिए !

चंदोपंत—बस यही एक बात न कहिये। नौकरियों की आवश्यकता हो तो दस नौकरियाँ ढूँढ़ दे सकता हूँ। जिस प्रकार तुम्हारी सुशीला का विवाह मैंने जमवा दिया उसी प्रकार यदि तुम्हें एक और कुरूप लड़की हो तो कहिये। अभी उसके लिए एक नहीं दस जमाई ढूँढ़ दे सकता हूँ। कुरूप लड़की के लिये बेवकूफ़ जमाई ढूँढ़ देना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। मेरे ऐसे हथकंडे हैं कि कोई न कोई मूर्ख फँस ही जाता है।

प्रभाकर—(सामने आकर) क्या कहा, कुरूप लड़की और मूर्ख जमाई ऐं ?

चंदोपंत—(झेंपकर) न—न नहीं जी ! मेरे कहने का मतलब यह था कि......।

प्रभाकर—(बीच में ही) ठीक है ठीक है समझ गया। मुझे मूर्ख ही समझिये किन्तु याद रखिये अब मैं जमाई हूँ। और जमाई की माँग का महत्व आप जैसे विद्वान महाशय समझते ही हैं। अतएव

ससुर महोदय की सेवा में मेरी विनम्र विनती है कि निकट भविष्य में इस बम्बई में मुझे एक अच्छा सा घर दिला दीजिए वरना...'

चितोपंत—वरना क्या ?

प्रभाकर—वरना—बात बिलकुल सीधी और साफ है—वरना श्रीमान को यह घर अपनी लड़की, अपने नाती और अपने जमाई के लिये खाली कर देना होगा।

चितोपंत—वाह जी वाह ! आप तो ऐसा दबाव डाल रहे हैं कि जैसे इस घर पर आपका ही अधिकार हो।

प्रभाकर—हाँ, इस घर पर मेरा अधिकार है। जब कि इस बम्बई में मुझे नौकरी लग गई है तब इसी बम्बई में अपने रहने के लिये कोई घर किसी प्रकार प्राप्त करना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। और आप मेरे ससुर हैं अतएव सब से प्रथम हक आपके ही घर पर मेरा है। इस घर में रहने का निश्चय करके ही मैं आया हूँ यहाँ। अतएव चुपचाप चौबीस घंटे के अन्दर यह घर मेरे लिये खाली कर देने की कृपा कीजिए। हाँ, आप मेरे श्वसुर हैं, अतएव मेरा भी कर्तव्य है कि आपकी अड़चनों पर विचार करूँ। मैंने सोच लिया है कि आपको भी किसी प्रकार की कोई तकलीफ न होने पाय। मेरे बम्बई में आ जाने के कारण मेरा वहाँ का घर अब खाली ही है इसलिए श्रीमान वहाँ जाकर सुख से रहें। आशा है मेरी यह प्रार्थना अवश्य ही स्वीकृत होगी।

चितोपंत—वाह, वाह आप भी अजीब हैं। सारी आयु तो मेरी बम्बई में बीत गई, अब वृद्धावस्था में बम्बई छोड़कर नासिक जाऊँ, नहीं यह नहीं होगा।

प्रभाकर—यही होगा महोदय ! सोचिये तो सही अब आपको बम्बई में रह कर करना ही क्या है। आप पेन्शन ले चुके हैं, बम्बई से आपका संबंध टूट चुका है। पेन्शन लेने के कारण न कहीं जाना न

आना। घर पर ही दिन भर बैठे रहना है आपको। मेरा नासिक का घर विस्तृत और सुन्दर है। सामने बाग है। बीच में चौक है। वहाँ की आबहवा आपके स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त सुखकर साबित होगी। सब से बड़ी बात तो यह है कि नासिक तीर्थस्थान है और वृद्धावस्था में रामनाम का जप जरूरी है।

चिंतोपंत—अभी मेरा 'राम' कहने का समय नहीं आ पाया है समझे।

प्रभाकर—माना कि आपका 'राम' कहने का समय नहीं आ पाया है फिर भी 'हरि हरि' जपने का समय तो आ ही गया है इसमें तो कोई सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। 'हरि हरि' कहने के लिये भी नासिक जैसी पवित्र नगरी आपको कहीं ढूँढ़े नहीं मिलेगी। किन्तु फिर भी आप वहाँ नहीं जायेंगे क्यों? (क्रोध से स्वर को धीरे धीरे ऊँचा करते हुए) बम्बई के विलासी वातावरण में रहने वाले आप जैसे लोग, हम जैसे संकटग्रस्त लोगों की जरा भी परवाह न कर यहाँ की गंदी हवा में सड़ कर ही मरेंगे किन्तु बम्बई नहीं छोड़ेंगे।

सुशीला—एँ, आप यह क्या कह रहे हैं सोचिये तो!

प्रभाकर—तुम चुप रहो। मेरा शरीर क्रोध से जल रहा है। यह सारी बातें कहने लिये मुझे समय बाध्य कर रहा है। आज सात महीने से घर मिलने के लिये मैंने जो कष्ट सहे हैं उसकी कल्पना भी तुम लोगों को नहीं हो सकती। घर ढूँढ़ने के लिये सात सात मंजिल के जीने चढ़ते उतरते मेरी पिंड़लियों में गोले उभर आये और पैरों में छाले पड़ गये हैं। घर मालिकों की खुशामद करते करते मेरा मुँह थक गया। रास्ते में चलते समय 'To Let' का विज्ञापन देखने के लिये ऊपर मुँह करके चलने की आदत पड़ कर यह भय लगने लगा कि कहीं चातक पत्ती की तरह स्वाति की बूँदों पर जीवन बिताने का मौका न आ जाय। किसी बिल्डिंग के द्वार तथा खिड़कियाँ बन्द देखकर यह

आशा उत्पन्न होती है कि कहीं यह घर खाली तो नहीं है और मैं उस घर के आस पास चक्कर लगाने लग जाता। यह चक्कर असफल होने पर इसका मुझे रंज नहीं होता था किन्तु गेलरी में हमेशा सजधज कर खड़ी होने वाली नवयुवतियाँ मेरे बार बार चक्कर लगाने से अपने सौंदर्य पर व्यर्थ ही अभिमान कर अपनी भृकुटियाँ वक्र करने लगतीं इसी का मुझे अधिक रंज होता था। अब मैं इतना अधिक ऊब उठा हूँ कि इस उग्र तस्पया को फिर आरम्भ करने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है। इसी लिये मेरी प्रार्थना है कि बीस घंटे के अन्दर मेरे लिये यह घर खाली कर दीजिए।

चितोपंत—जब कि तुम इतनी मगरूरी से पेश आ रहे हो तो याद रखो यह घर तुम्हें नहीं मिल सकता। हरगिज नहीं मिल सकता समझे!

प्रभाकर—नहीं मिल सकता?

चितोपंत—(दृढ़ता से) हाँ हाँ, नहीं मिल सकता।

प्रभाकर—ठीक है। देखें अब इस युद्ध में किस की जीत होती है। यदि दो घंटे के अन्दर आपको इस घर से मैंने पदच्युत न किया तो मेरा नाम प्रभाकर नहीं।

[बाहर से आवाज आती है—गोखले, गोखले हैं क्या?]

चितोपंत—अरे अब यह कौन आया? अवश्य ही कोई घर की तलाश में आया है अब क्या किया जावे। ये सब के सब बम्बई पर आक्रमण करने के लिये कहाँ से आ मरे ईश्वर ही जानता है। (आबा साहब घर में प्रवेश करते हैं) किसे ढूँढ़ते हैं आप? यहाँ एक भी घर या घर का कोई कमरा खाली नहीं है।

आबा साहब—अजी मैंने कब आपसे कहा कि मुझे घर की आवश्यकता है! घर की मुझे जरूरत नहीं है, न मैं उसके लिये आया ही हूँ।

चितोपंत—(आश्चर्य से) सच कह रहे हैं यह आप ?

आबा साहब—हाँ, बिलकुल सच कह रहा हूँ। अजी इस बम्बई में मेरी तीन बिल्डिंग्ज हैं। मुझे घर की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे घर इसलिये आया हूँ कि वे-वे (जेब से डायरी निकाल कर पढ़ते हुए) हाँ, प्रभाकर गोविन्द परांजपे की मुझे आवश्यकता है।

चिंतोपंत—यह तो मेरे जमाई का नाम है। वे तो यहीं खड़े हैं।

आबा साहब—(प्रभाकर की ओर देखकर) वाह, प्रभाकर जी, आपकी राह देखते देखते थक गया। पिछले चार दिनों से मेरे घर आप एक बार भी नहीं आये।

प्रभाकर—किन्तु मैंने तो आपसे आज आने का वायदा किया था। फिर आप चार दिन से मेरी राह फिजूल देख रहे थे।

आबा—यह सच है कि आपने आज आने का वायदा किया था और आप अपना अंतिम निर्णय आज सुनाने वाले थे फिर भी कभी कभी जलपान को आने में हर्ज ही क्या था ? हाँ, फिर आपका क्या विचार ठहरा ? आपके लिये ब्लाक सजाकर मैंने बिल्कुल तैयार रख छोड़ा है। आपकी ओर से, मेरी वह बात स्वीकृत होते ही उस ब्लाक में रहने आ जाइये।

सुशीला—(आनन्द पूर्वक प्रभाकर की ओर देखकर) तो हमें अब रहने का घर मिल गया क्यों ?

प्रभाकर—हमें नहीं, मुझे।

सुशीला—यानी ?

प्रभाकर—अभी सब समझ में आ जायेगा।

चंदोपंत—बड़े आश्चर्य की बात है कि इस समय सारी बम्बई में घूम आइये कहीं रहने को घर नहीं मिल रहा है। ये ही एक मकान मालिक ऐसे हैं जो कहते हैं ब्लाक सजाकर तैयार है रहने आ जाइये।

एक ओर घर ढूँढ़े नहीं मिलता दूसरी ओर अपने घर में रहने का आग्रह किया जा रहा है। आश्चर्य! महान आश्चर्य!

आबा साहब—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है महाशय। इस बम्बई में मेरी तीन बिल्डिंग्स हैं और उनमें कुल मिलाकर तीन ब्लाक खाली हैं किन्तु उनमें कोई रहने ही नहीं आ रहा है।

चिंतोपंत—बम्बई में ब्लाक खाली हो और कोई उनमें रहने नहीं आये आश्चर्य है।

आबा साहब—मेरी एक शर्त है, जो उस शर्त को पूरी करेगा उसे ही मैं अपना घर रहने के लिए दूँगा।

बंदोपंत—कौन सी शर्त है वह।

आबा साहब—शर्त यही है कि जिसे ब्लाक की आवश्यकता हो वह मेरी तीन लड़कियों में से किसी एक के साथ विवाह करे। तीनों लड़कियों से एक साथ विवाह करने वाले को तीनों ब्लाक्स मुफ्त यह रिआयत है मेरी ओर से।

चिंतोपंत—वाहरे वाह, अजाब शर्त है!

आबा साहब—अजी किया क्या जाये, लड़कियों के विवाह भी तो होने चाहिये। ईश्वर ने जब सुन्दरता तकसीम की तब तो वे गैर-हाजिर रहीं और अब मैं दो साल से परेशान हो रहा हूँ यश नहीं मिल रहा है। अंत में ईश्वर की कृपा से यह युद्ध आरम्भ हुआ और बम्बई में घरों की कमी उपस्थित हो गई है। तब मैंने भी सोचा कि इस सुसंधि का फायदा अवश्य ही उठाना चाहिये। मैंने तुरन्त ही अपने तीनों घरों पर तीन बोर्ड टाँग दिये 'घर भाड़े से देना है।' जब कोई घर की आवश्यकता प्रकट करता है मैं अपनी वही शर्त उसे कह देता हूँ। अब तक सैकड़ों लोग घर देखकर चले गये किन्तु उनमें से एक भी वीर मेरी किसी भी लड़की का पाणिग्रहण करने का साहस न कर सका। अनेकों ने प्रथम तो सहर्ष इस शर्त को मंजूर कर लिया, किन्तु

जब उन्होंने मेरी लड़कियों को देखा तो निराश होकर भाग गये और फिर कभी भी उस ओर आने का साहस न कर सके। किन्तु महाशय, ईश्वर को सबकी फिक है। मेरी बड़ी लड़की को देखने के बाद उससे विवाह करने की सहर्ष अनुमति देने वाला एक ही वीर इस संसार में मिला और वह वीर है ये प्रभाकर पंत।

चिंतोपंत—(एकदम आश्चर्य से) क्या कहा प्रभाकर पंत ! ये प्रभाकर पंत आपकी लड़की से विवाह करेंगे ! आप यह क्या कह रहे हैं !

सुशीला—मेरी माँ, मैं यह क्या सुन रही हूँ। माँ भगवती यह सब क्या हो रहा है ! (धम्म से गिर पड़ने की इच्छा से नीचे देखती है किन्तु सन्दूक का कोना सिर में लगने की सम्भावना है यह देख खड़े रह कर ही आँचल से आँसू पोंछने लगती है और हिचकियाँ लेती हुई खड़ी रहती है)।

प्रभाकर—मैंने अभी अपना पूर्ण निर्णय इन्हें नहीं सुनाया है, न अभी मैंने वैसा पक्का वचन ही उन्हें दिया है। आज ही और अभी मैंने पूर्ण निश्चय किया है कि आबा साहब की एक लड़की से अवश्य ही विवाह करूँगा जिससे मुझे इस बम्बई में आसानी से घर मिल सके।

आबा साहब—(आनन्द से) हे ईश्वर तेरे असीम अनुग्रह से मेरी एक लड़की का विवाह तो निश्चित हो ही गया।

चिंतोपंत—(क्रोध से) अजी, विवाह निश्चित होना सहज नहीं है प्रभाकर पंत का। विवाह मेरी लड़की से पहले ही हो चुका है। उनके तीन लड़के भी हैं समझे !

प्रभाकर—है तो हुआ करे। इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि अब मैं इनकी लड़की के साथ दूसरा विवाह नहीं कर सकता।

आबा साहब—(अल्प समय विचार करने के पश्चात्) मुझे मंजूर है। प्रभाकरजी का यदि पहिले एक विवाह हो चुका है तो होने दो

फिर भी मैं अपनी लड़की का इनसे विवाह करने को राजी हूँ। मेरी लड़की को प्रथम तो अब तक वर मिले नहीं—मिल नहीं रहे हैं—मिलेंगे भी नहीं। प्रभाकर पंत को भी घर की आवश्यकता है इसी लिये वह मेरी लड़की से विवाह कर रहे हैं। कल यदि युद्ध समाप्त हो गया और घर सस्ते हो गये तो ये प्रभाकरजी भी मेरे हाथ से निकल जायेंगे। हाँ, प्रभाकरजी, आपका पूर्ण निश्चय हो ही गया है।

प्रभाकर—कहिये बाबा साहब (चिंतोपंत) क्या इन्हें वचन दे दूँ? मैं इन आबा साहब के साथ जाऊँ?

सुशीला—नाथ, आप इतने निष्ठुर कैसे हो गये? मुझे छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं? मुझ पर दया करो! आपकी प्रेम की भावनाएँ कहाँ विलीन हो गईं।

प्रभाकर—यह तुम अपने पिताजी से पूछो। युद्ध समाप्त होने पर दूसरा घर मिलने तक मैंने तुम्हारे पिता से घर माँगा, वह भी बदले में अपना नासिक का विस्तृत घर देकर। किन्तु जब इतना भी त्याग वे तुम्हारे लिये नहीं कर सकते तो मुझे भी अपना मार्ग देखना ही चाहिये। उन्हें अपनी पुत्री की परवाह नहीं है, मैं क्या करूँ?

सुशीला—पिताजी आप इतने कठोर न बनिये! इनका कहना मंजूर कर लीजिये।

चिंतोपंत—(किंकर्तव्यविमूढ मनःस्थिति में) हाँ, प्रभाकर पंत हम आपस में कुछ समझौता कर लें देखिये:

प्रभाकर—ऊं हूँ: समझौते का समय निकल गया। अब तो बिना शर्त आत्मसमर्पण पर ही मामला निपट सकता है। आज ही बल्कि अभी ही आप अपनी सब फौज लेकर नासिक चले जाइये। यदि यह शर्त आपको मंजूर हो तो ठीक है वरना मैं आबा साहब के साथ जा रहा हूँ, उनकी बड़ी लड़की से विवाह करने।

चितोपंत—प्रभाकर पंत जरा तो विचार कीजिये। मैं अकेला जा

भी सकता हूँ किन्तु मेरे बच्चों का क्या होगा ? उनकी पढ़ाई...।

प्रभाकर—नासिक में पाठशाला है, उनकी पढ़ाई वहाँ हो सकती है। अभी सब बच्चे प्रायमरी क्लास में ही तो पढ़ रहे हैं।

चिंतोपत—किन्तु शरद वह तो बी० ए० में पढ़ रहा है। उसका एक वर्ष योंही मुफ्त जायगा उसका तो विचार कीजिये।

प्रभाकर—उसे यहीं रहने दीजिये। उसके रहने से कोई बाधा, कोई अड़चन नहीं होगी। आपके साथ कोने में रखी यह वाकिंग स्टिक जायेगी ही तब वह खाली कोना आपके शरद के लिये काफी है। बोलिये आप नासिक जाना मंजूर करते हैं ?

चिन्तोपंत—हाँ, हाँ, मंजूर करता हूँ। अब नामंजूर कर ही कैसे सकता हूँ।

प्रभाकर—(एकदम आनन्द से) हिप्, हिप्, हुर्रे। चिन्तोपन्त फ़ादर इन ला विथड्रास ऑन बाम्बे फ्रन्ट। प्रभाकर फोर्सेज आक्युपाइ ब्लॉक नम्बर सिक्स, डबावाला मॅन्शन ! विक्टरी। विक्टरी। हाँ, माइ डियर फादर इन ला, आपकी नासिक जानेवाली गाड़ी शाम को पाँच बजे छूटती है, जानते हैं न आप ?

चिन्तोपंत—हाँ, हाँ, जानता हूँ। अभी से मैं जाने की तैयारी करता हूँ। (अन्दर चले जाते हैं)

आबा साहब—प्रभाकर जी ! अब मेरी लड़की का विवाह......।

प्रभाकर—आपकी लड़की का विवाह ? आपकी लड़की से अन्धा भी विवाह नहीं करेगा, फिर मेरे तो दो बड़ी-बड़ी आँखें हैं। क्या आप यह सच ही समझ बैठे कि मैं आपकी लड़की से विवाह करने को राजी हूँ ! अजी वह तो मेरे ससुर साहब का दिमाग ठिकाने पर लाने के लिये मेरा एक राजनीतिक दाव था समझे ! युद्ध में विजय प्राप्त करने के हेतु तुम जैसे छोटे-छोटे राष्ट्रों को थोड़ा आमिष बनाकर इसी प्रकार सहायता लेनी पड़ती है। हम युद्ध में विजयी हो गये हैं। अब तुम

जैसे राष्ट्रों को इस प्रकार धक्का देकर (आबा साहब को घर के बाहर कर देता है और तब बन्दोपन्त से) हाँ, मिस्टर बन्दोपन्त, हम जैसे मूर्ख जमाई के घर में रहना आपको भी शोभा नहीं देगा। जाइये तशरीफ ले जाइये। (उसे भी घर के बाहर कर देता है और दरवाजा लगाकर सुशीला से) सुशीला, मेरी हृदयरानी! अंत में मेरा बम्बई पर किया गया यह हमला खूब सफल रहा। मैंने बम्बई में रहने के लिये एक सुन्दर घर प्राप्त कर ही लिया न! अब मेरे इस पराक्रम की खुशी में एक मीठा-मीठा........।

[वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही परदा गिरा दिया जाता है। एड़ियाँ और सिर ऊँचा करके देखनेवाले प्रेक्षकों को निराश होना पड़ता है।]

बच्चन पांडे का छाता

उस दिन दफ्तर से लौटने पर उस बात को भूलने की बहुत कोशिश करने पर भी बच्चन पांडे के लिए उसे भूलना या उसे दिल से निकाल देना सम्भव न हुआ। बार-बार वही एक बात उन्हें स्मरण हो आती और उनका ध्यान अपने सूने हाथ की ओर अनायास ही चला जाता। पिछले दो-तीन दिन का अपने छाते का इतिहास उन्हें बार-बार याद हो आता और उनका दिल भर आता। हमेशा की तरह उनके एक हाथ में तरकारी के लिए एक थैला था और बेचारा दूसरा हाथ, जिसे कंधे पर रखा छाता पकड़ने का नित्य का अभ्यास था, आज कुछ काम न होने के कारण घड़ी के पेंडुलम की भाँति योंही हिल रहा था और उन्हें उस दुखदायिनी घटना का बार-बार स्मरण दिला रहा था। उस घटना का स्मरण होते ही उसका दोषी कौन है यह वे समझ न पाते और कभी अपने पर खीझ उठते, कभी दुनिया पर अग्नि-वर्षा करने लगते, कभी ईश्वर को कोसने लगते फिर भी उनका मन शान्ति नहीं पा रहा था और उनका दम अन्दर ही अन्दर घुटने लगता।

जब बच्चन पांडे घर पहुँचे तो उनकी पत्नी द्वार में खड़ी उनकी राह देख रही थी। तरकारी का थैला पत्नी के हाथ में देकर वे अन्दर गये और अपने ढीले-ढाले कोट के बटन खोलने लगे। इसी समय पत्नी ने आकर पूछा—'क्या आज नया छाता नहीं ले गये थे?'

पत्नी का कहना समाप्त होते ही ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ—'छाता गया भाड़ में! तुम्हें क्या करना है उससे? जाओ अन्दर जाकर चुपचाप चाय बनाओ।'

कोट निकाल कर खूँटी पर टाँग दिया, टोपी मेज पर रख दी और

पास में रखी आराम कुर्सी पर बैठ गये और एक लम्बी साँस लेकर बड़बड़ाने लगे, 'नसीब तो देखो। लोग दुनिया को लूट रहे हैं, उसे धोखा देकर हजारों रुपये सहज में ही ठग लेते हैं, बड़ी-बड़ी इस्टेटें पचा जाते हैं, यहाँ तक कि औरतों-बच्चों को उड़ा ले जाते हैं लेकिन उनका कोई कुछ भी नहीं कर पाता। वे बैंक खोलते हैं, मोटर गाड़ियों में सैर करते हैं, बँगले बनवाते हैं; पर उनकी ओर आँख उठा कर भी कोई नहीं देखता। और—मैं—मुझे अनायास मिली चार रुपये की चीज भी पच न सकी! परमेश्वर की दुष्टता की चरम सीमा नहीं तो और क्या है यह?'

सच जानिये, अपनी चवालिस वर्ष की अवस्था में बचन पांडे ने कभी भी अपने दफ्तर के काम में टालमटूल नहीं की। एक पाई के लिये भी किसी को धोखा नहीं दिया। बीस वर्ष पूर्व वे प्रति मास सत्ताईस रुपये वेतन पर म्युनिसिपैलिटी में नौकर हुए थे। तब से अब तक—सैंतालिस रुपये प्रति मास वेतन होने तक—उनके जीवन के इतिहास में यह कभी नहीं हुआ कि उन्होंने किसी महीने में घर का किराया न दिया हो, कभी किसी से एक पाई भी उधार ली हो और नाटक या सिनेमा देखा हो। न कहीं आना न जाना। दफ्तर से घर और घर से दफ्तर। ऐसा सीधा, सरल और सच्चा मनुष्य कभी एकाध बार अपना फायदा कर लेने की ओर प्रयत्न करे—और उसे फायदा भी नहीं कहा जायगा, अपने नुकसान की भरपाई करने के हेतु किंचित गलत मार्ग का अवलम्बन करे, तो उसमें भी उसे सफलता न मिलने देना परमेश्वर का अन्याय नहीं तो और क्या है? परमेश्वर गरीबों पर ही संकटों की वर्षा करता है। उन्हें ही सताता है। बचन पांडे आज हृदय से परमेश्वर पर जलभुन रहे थे। वैसी घटनाएँ ही घटित हो रही थीं दो तीन दिन से।

चार वर्ष पूर्व उन्होंने एक छाता खरीदा था। तीन बरसातों का

लम्बा समय काटने के कारण उसकी तानें ढीली हो गई थीं, कपड़े में जगह-जगह छेद हो गये थे। फिर भी वें इस वर्ष नया छाता खरीद नहीं रहे थे। बड़ी सावधानी तथा तत्परता से उससे काम ले रहे थे। क्या कोई यह कहने का साहस कर सकेगा कि उनकी यह साव-धानी तथा तत्परता समयानुकूल नहीं थी—असामयिक थी—जब कि साधारण से साधारण छातों की कीमत चार चार-पाँच रुपये हो गई थी। किन्तु मनुष्य कुछ सोचता है और परमेश्वर कुछ और।

चार दिन पहले सुबह दस बजे वे दफ्तर जा रहे थे उसी समय अचानक उनके पुराने ढीले छाते पर आँधी और पानी ने धावा बोल दिया। पानी तो थोड़ा था किन्तु आँधी का जोर बहुत था। आँधी के हमले पर हमले हो रहे थे और वे उन आक्रमणों को विफल करने की चेष्टा कर रहे थे; किन्तु आँधी ने एक बार अपनी सारी शक्ति लगा कर छाते पर धावा बोल ही दिया। बच्चन पांडे के हाथ से वह छूट गया और हवा के साथ उड़ने लगा। छाता हवा के साथ आगे आगे जा रहा था और बच्चन पांडे सड़क पर उसके पीछे-पीछे भाग रहे थे। घोड़ागाड़ी, राहगीर, मोटर, ट्राम इन सारी बाधाओं को पार कर वे अपने छाते के पीछे बेतहाशा भाग रहे थे। बम्बई की उस सड़क के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। सभी राहगीर विस्मित, चकित उनकी ओर देख रहे थे। इस खेल को देखने का परम सौभाग्य पाँच-छः मिनट से अधिक किसी को प्राप्त नहीं हुआ। हवा का वेग कम होते ही छाता सड़क पर गिर पड़ा। बच्चन पांडे दौड़ कर उसे उठाना ही चाहते थे कि सामने से एक विक्टोरिया बड़े वेग से आ गई। यदि बच्चन पांडे एक ही मिनट वहाँ ठहर जाते तो बग्घी उनके ऊपर से अपना मार्ग बना लेती; किन्तु वे एक ओर फुर्ती से हट गये और बग्घी छाते की छाती पर से बेरहमी से निकल गई। छाते की डंडी टेढ़ी हो गयी, तानें टूट गईं, कपड़ा फट गया और बच्चन पांडे.........

अपने छाते की ओर कातरता से देख रहे थे। उनका कंठ सूख गया था। उन्होंने अपने छाते का छिन्न-विछिन्न देह काँपते हाथों तथा धड़कते हृदय से उठा लिया और वे आफिस की ओर चल दिये। वे यह जानते थे कि छाते का यह रूप देख सभी उनका उपहास करेंगे फिर भी उन्होंने इस हँसी की, इस उपहास की तनिक भी परवाह नहीं की। छाते को वहीं छोड़कर चले जाना उन्होंने इसलिये उचित नहीं समझा कि युद्ध के कारण लोहे का भाव खूब महँगा हो गया है। वे अच्छी कीमत पर उसे बेच देंगे तथा जो कीमत प्राप्त होगी उसमें और रुपये मिलाकर एक नया छाता खरीद लेंगे; क्योंकि अभी बरसात समाप्त नहीं हुई थी। उन्हें नया छाता खरीदना ही होगा। उस दिन शनिवार होने से आफिस जल्द बन्द हुआ और वे कबाड़खाने की ओर चल पड़े। वहाँ बहुत कुछ घिस-घिस करने के पश्चात् उस टूटे छाते को उन्होंने आठ आने में बेच दिया तथा चार रुपये और मिलाकर एक मजबूत नया छाता खरीद लिया। छाता खरीदते समय उन्होंने उसे दस साल तक सँभालकर रखने की भीष्म-प्रतिज्ञा भी की, किन्तु उसी समय परमेश्वर कुछ और ही प्रतिज्ञा कर रहा था।

रविवार को प्रातःकाल उन्हें अपनी बहिन के घर आवश्यक कार्य से जाना था। उनकी बहिन त्रिवंडी ग्राम में रहती थी। उन्होंने नया छाता उठाया और अपनी बहिन के घर त्रिवंडी गये। वहाँ से जब लौटे तो शाम हो गई थी। त्रिवंडी—ठाणा बस से वे प्रथम ठाणा आकर बाद में बम्बई ट्रेन से आना चाहते थे। ठाणा स्टेशन से वे ट्रेन में बैठे और घाटकोपर तक सही-सलामत चले आये। पुराने छाते के वियोग की कल्पना में वे बेसुध से थे। घाटकोपर स्टेशन निकल जाने के बाद उन्होंने सहज ही अपनी दाहिनी ओर देखा और एक प्रकार के सूनेपन को अनुभव किया। दूसरे ही क्षण उनके ध्यान में आया कि छाता अपनी जगह पर नहीं है। त्रिवंडी से निकलते समय

छाता साथ में लिया था इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था, लेकिन इसके बाद उन्हें कुछ याद नहीं आ रहा था। वे सोच रहे थे, छाता साथ में था जरूर किन्तु वह त्रिवेंडी बस में ही रह गया या ठाणे स्टेशन में ट्रेन की राह देखते समय बेंच पर रख दिया और ट्रेन आते ही जल्दी में वहीं बेंच पर रह गया। अथवा ट्रेन में कोई मुसाफिर आंख बचाकर बीच के किसी स्टेशन पर उसे उठा ले गया। क्या हुआ, क्या न हुआ, उन्हें कुछ भो याद नहीं आ रहा था। वे उस छाते के वियोग की कल्पना से एकदम घबरा गये—सारा शरीर पसीने से तर हो गया। छाता, छाता, छाता, छाते के अतिरिक्त उन्हें कुछ दीख ही नहीं रहा था। जिस प्रकार रामचन्द्र जी को जल में, थल में, पाषाण में सीता जी देख पड़ रही थीं उसी प्रकार बच्चन पांडे को अपना छाता दीख रहा था। वे मुसाफिरों के छातों की ओर जिस नजर से देखने लगे उसका निराला ही अर्थ लगाकर सभी अपने-अपने छातों की विशेष हिफाजत रखने लगे तथा जेब में मनीबेग को टटोलने लगे। इधर बच्चन पांडे अपने भुलक्कड़पन पर संतप्त हो रहे थे।

घर आने पर उन्होंने अपनी श्रीमताजी को सारी घटना सुनाई। फिर क्या था बात की बात में सारे मोहल्ले में यह खबर बिजली की तरह फैल गई कि बच्चन पांडे के दो छाते एक ही दिन में गायब हो गये हैं। एक दिन में दो छातों का वियोग वास्तव में एक विशेष घटना थी। जिस पर विचार करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य था। मोहल्ले भर में कोलाहल मच गया। मोहल्ले का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की इसी प्रकार की घटनाएं सुनाने लगा। बेचारे बच्चन पांडे सुनते-सुनते ऊब गये। लल्लन चौबे ने अपने जीवन की जो घटना सुनाई उसे सुनकर बच्चन पांडे को कुछ तसल्ली अवश्य हुई।

लल्लन चौबे ने कहा—'इसी प्रकार मेरे भी दो छाते एक ही दिन में एक के पीछे एक गायब हुए। मैं रो दिया बच्चन पांडे! मेरे आंसू

रोके नहीं रुकते थे। तब मेरे मित्र झटकन दुबे ने छाता प्राप्त करने की एक तरकीब सुझाई। उस तरकीब से मुझे एक छाता अनायास मिल गया। बम्बई की ट्राम कम्पनी का जो हेड आफिस है उसमें ट्राम में भूले लावारिस बीसों छाते रोजाना जमा होते रहते हैं। वहाँ जाइये और वहाँ के क्लर्क से बेधड़क कह दीजिये कि जनाब कल ट्राम में मेरा एक छाता भूल से रह गया है, कृपया वह दे दीजिए।

तब क्लर्क कहेगा, 'तुम्हारे छाते की पहिचान क्या है? क्या कुछ विशेष चिह्न है तुम्हारे छाते पर?' किन्तु पांडेजी, इस प्रश्न को सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। फौरन कह दीजिए, मेरा छाता इस रंग का है, उसकी डंडी इस प्रकार की है आदि। जो उस समय मुँह में आये कह दीजिए। अजी सोचिये तो पांडेजी, वहाँ बीसों छाते पड़े रहते हैं, किसी न किसी छाते से तुम्हारा कहना टकरा ही जायगा और फौरन उस प्रकार का छाता तुम्हारे हवाले कर दिया जायगा। और समझे, तुम्हारे कहने के अनुसार उस रंग का, उस डंडी का छाता न भी निकला तो राईट अबाउट टर्न और क्विक मार्च।' लल्लन चौबे ठठाकर हँस पड़े। फिर बचन पाँडे की पीठ पर हाथ रख बोले, 'पांडेजी, एक चान्स लेकर तो देखिये, तुम्हारे गाठ से तो कुछ जायेगा ही नहीं। तुम्हारी किस्मत जोरदार हुई तो छाता लेकर ही हँसते हुए घर आओगे। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि निन्यानबे फीसदी तुम्हें छाता मिलेगा ही। हमारे मित्रों ने इसी प्रकार एक-एक दो-दो छाते प्राप्त किये हैं। फिर तुम्हारा जो जी चाहे करो।'

लल्लन चौबे, बचन पांडे के हृदय में लोभ का बीज बोकर चले गये। सारी रात उन्हें नींद नहीं आई। लल्लन-प्रदत्त लोभ के बीज में अंकुर फूटने लगे। 'चौबे की सलाह में कोई पाप नहीं है। मेरा साढ़े चार रुपये में खरीदा छाता बात की बात में कोई ले गया और क्या वह उसका उपभोग न कर रहा होगा? मेरा छाता दूसरे के पास

गया, तीसरे किसी का मेरे पास आया तो उसमें हर्ज ही क्या है। परमेश्वर के दरबार में हिसाब तो बराबर ही रहा। एक बात और भी है। कम्पनी के दफ़्तर में बीसों छाते उनके वारिस न आने के कारण वैसे ही पड़े रहते होंगे। लाखों रुपये का फायदा उठाने वाली कम्पनी को उन छातों की आवश्यकता ही क्या है? बस, कल दोपहर की छुट्टी में वहाँ जाकर एक छाता उठाना और फिर सीधे घर आ जाना चाहिए।'

इन्हीं विचारों में बच्चन पांडे को नींद लग गई। उन्हें सारी रात स्वप्न में ये ही सब बातें दिखाई दीं। एक बार उन्होंने देखा, वह कम्पनी के आफिस में गये हैं और वहाँ क्लर्क के सम्मुख छाते की हुलिया कहते समय इतने घबड़ा गये कि क्लर्क सही बात जान गया और पुलिस चौकी पर ले जाने की धमकी देने लगा—कभी देखते, क्लर्क को धोका देने में उन्हें सफलता मिल गई है और एक अच्छा सा रेशमी कपड़े का छाता लेकर आफिस से अकड़ते हुए घर आ रहे हैं। बस उन्हें ये दो ही स्वप्न, कभी यह और कभी वह रात भर दीखते रहे।

सबेरा होने पर भी उनके मस्तिष्क में छाते ही के विचार आ रहे थे और जब वे दफ़्तर गये तब भी बस छाते के विचार ही उनके मस्तिष्क में हलचल मचा रहे थे। दफ़्तर के काम की ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं था। ज्यों-ज्यों दोपहर की छुट्टी का समय नजदीक आता गया त्यों-त्यों उनका निश्चय दृढ़ होता गया। डेढ़ बजते ही वे उठे। मन को पक्का कर आफिस से बाहर हो गये। ट्रामवे आफिस के निकट आते ही उनके हृदय की धड़कन इतनी अधिक बढ़ गई कि उन्हें भय लगने लगा कि धड़कन की आवाज आस-पास के लोगों को कहीं सुनाई तो नहीं दे रही है। आफिस की सीढ़ियों पर चढ़ते समय उनके पैर काँपने लगे और वहीं बैठ जाने को उनका जी चाहने लगा। वे घबरा गये और आफिस लौट जाने को ही थे कि वहाँ पर खड़ा हुआ एक पठान बोला, 'किधर जाने का है?' तब अपने आप उनके मुखारविंद से

शब्द निकल गये, 'लॉस्ट प्रॉपर्टी डिपार्टमेन्ट'। अब उन्हें अन्दर जाना ही पड़ा और वे अन्दर चले भी गये। अब उन्होंने अपने मन को खूब दृढ़ कर लिया था। क्लर्क के सम्मुख जाकर खड़े हो गये और उसे नमस्कार किया। क्लर्क ने पूछा, 'कहिये आपका क्या काम है?'

'मेरा छाता कल ट्राम में रह गया है।' बचन पांडे ने धैर्यपूर्वक कहा।

'कैसा है आपका छाता?'

बचन पांडे ने छाते का आकार-प्रकार जो मुँह में आया कह दिया। क्लर्क अन्दर चला गया और बचन पांडे के मन में सद्विवेक बुद्धि जागृत हो गई। मन ही मन भगवान से प्रार्थना करके लगे, 'मैंने यह क्या किया है ईश्वर? उस आकार-प्रकार का छाता उसे न मिलने दो। मेरा मुख उजला ही रहने दो भगवन्, अब क्या करूँ! मुझे किसी का छाता नहीं चाहिये।'

किन्तु दुर्भाग्य से कहिये किंवा सद्भाग्य से, उसी आकार-प्रकार का छाता लाकर क्लर्क ने उनके हाथ में थमा दिया। किसी प्रकार 'धन्यवाद' कह कर ट्रामवे आफिस से बाहर हो गये। बाहर आते ही छुटकारे का एक निःश्वास उनके मुख से निकला और वे सीधे अपने दफ्तर चले आये। अब उनके मन का बोझ बहुत कुछ हट गया था और कुछ शक्ति का अनुभव करने लगे।

जब वे अपनी कुर्सी पर बैठे उस समय बड़े खुश थे। उस खुशी की प्रभा से उनका मुख आलोकित हो गया था। हर एक क्लर्क को भिन्न-भिन्न प्रकार से छाता प्राप्त करने का इतिहास नमक-मिर्च लगा कर सुनाने लगे। अन्त में उपसंहार करते हुए कहते—'तुम मेरे निजी मित्र हो, इसलिये तुम्हें यह घटना सुनाई है। कृपया किसी से कहियेगा नहीं!' घटना सुनाते समय वे इतने आवेश में आ जाते कि अपने आपको भूलकर अपनी बुद्धिमत्ता, चतुरता आदि का इतना खुल कर रसपूर्ण वर्णन करते कि देखते ही बनता था।

उनके दफ़्तर में बब्बन दुबे नामक नया क्लर्क था। आज उसे दफ़्तर में आने को देर हो गई थी। वह आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया। उसके पास बैठने वाले दूसरे क्लर्क ने बच्चन पांडे के छाते की अद्भुत कथा आदि से अन्त तक कह सुनायी। बच्चन पांडे के अतुल धैर्य, उनकी बुद्धिमत्ता का वर्णन उसने बड़ी ही ललित भाषा में किया।

इसे सुनकर बब्बन दुबे एकदम गंभीर हो गया। अल्प समय पश्चात् ही वह एकाएक बोल उठा—'तो क्या ट्राम में खोई हुई चीजें मिल जाती हैं? भाई, मैं बम्बई में नया हूँ इसलिये पूछ रहा हूँ। चार दिन पूर्व मेरा छोटा भाई मेरा छाता लेकर सिनेमा गया था। न मालूम वह सिनेमा हाऊस में भूल आया या ट्राम में रह गया। कह नहीं सकता। बड़ा अच्छा छाता था। मैं नसीब को दोष देकर चुप बैठा हूँ। अब आप कह रहे हैं कि ट्रामवे आफिस में छाता मिल जाता है तो मैं भी ट्रामवे आफिस में जाकर तलाश करूँगा, शायद मेरा छाता भी मिल जाय।'

'अजी मिलेगा क्यों नहीं।' उस क्लर्क ने जोश में आकर कहा। 'तुम्हारा छाता तो सचमुच ही ट्राम में रह गया है। हमारे बच्चन पांडे का छाता खोया त्रिवंडी में और वे दूसरा लाये ट्रामवे आफिस से। स्वयं बच्चन पांडे से ही पूछिये न, वह सारा इतिहास और उसके प्राप्त करने की तरकीब।'

बब्बन दुबे, बच्चन पांडे की सेवा में उपस्थित हुए और बड़े ही विनम्र शब्दों में उन्होंने छाते का इतिहास तथा उसे प्राप्त करने का तरकीब बताने की प्रार्थना की। एक चुस्त अनुभवी, निपुण की भाँति बच्चन पांडे ने अपना सारा इतिहास तथा छाता प्राप्त करने की उपाय उन्हें बताया। छाता प्राप्त करने में कौन कौन सी बाधायें उपस्थित होंगी, उनका निवारण किस प्रकार हो सकेगा आदि सब बातें गंभीरता-पूर्वक बताईं।

बब्बन दुबे ने कुतूहल-पूर्वक कहा—'आप जो छाता लाये हैं, क्या वह दिखाने की कृपा करेंगे ?

कोने में रखा छाता अभिमान के साथ उठाकर बच्चन पांडे ने उसके हाथ में दे दिया।

छाते को देखते ही बब्बन महाशय की आँखों के सम्मुख बिजली सी कौंध गई। वह एकदम चिल्लाकर बोले—'यह तो मेरा छाता है !'

'आप पागल तो नहीं हो गये हैं ?'

'सच जानिये यह छाता मेरा ही है।'

'आप यह क्या बक रहे हैं ? सचमुच आप पागल हो गये जान पड़ते हैं।' बच्चन ने कहा।

'यह छाता मेरा है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। वही रेशमी कपड़ा, वही डंडी, सब कुछ वही।'

उन दोनों की गरमागरम बहस सुनकर सभी क्लर्क वहाँ एकत्र हो गये। सभी आश्चर्य में डूबे हुए थे।

एक क्लर्क बोला—'यह छाता आपका है इसका सबूत क्या है ? क्या तुम्हारा नाम उस पर लिखा हुआ है क्या कोई विशेष चिह्न है उस पर जिससे वह तुम्हारा कहा जा सके ?'

'नाम और विशेष चिह्न तो कुछ भी नहीं है।' बब्बन दुबे सोचने लगा।

बच्चन पांडे के हृदय में फिर सदसद्विवेक-बुद्धि जाग्रत हुई। उनका हृदय निर्बल होता गया। जिस दृढ़ता से वह अभी अभी बोल रहे थे वह अब क्षीण होती जा रही थी। इसी समय बब्बन दुबे को कुछ याद आया। सँभल कर बोला—'एक चिह्न याद हो आया है मुझे। देखें वह मौजूद है क्या ?'

'क्या ?' सभी क्लर्कों के मुख से कुतुहल-पूर्वक अचानक निकल गया।

'छाते के निचले सिरे पर जो टीन की टोपी सी लगी रहती है उसकी कील कहीं गिर गई, तब मैंने एक घर में पड़ा पुराना स्क्रू उस जगह पर फिट कर दिया था। देखें, वह स्क्रू अब भी वहाँ है क्या?'

बच्चन पांडे ने आवेश में आकर छाते को औंधा कर निचले सिरे की टोपी को देखा। वह स्क्रू अब भी अपनी जगह पर मौजूद था।

बच्चन पांडे का मुख लज्जा से अवनत हो गया। एक शब्द भी प्रतिवाद-स्वरूप उनके मुख से नहीं निकला। चुपचाप जमीन की ओर देखते हुए उन्होंने वह छाता बच्चन दुबे की ओर बढ़ा दिया। बच्चन महाशय ने उसे ले लिया।

बच्चन पांडे अपनी कुर्सी पर आकर धम्म से बैठ गये और दोनों हाथों से मस्तक दबाकर, शून्य दृष्टि से सामने की ओर देखने लगे।

उन्हें लगा धीरे-धीरे उनका 'हार्ट-फेल' हो रहा है, किन्तु वह आभास मात्र ही था।

उस दिन संध्या को घर आने पर यदि उन्होंने परमेश्वर को गालियाँ देनी आरम्भ कर दी हों तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है? आप ही बताइये?

दन्त-कथा

डाक्टर चतुर्भुज के घर में दो फोटो हैं। बाहर के कमरे में जो बड़ा फोटो टँगा है वह एक वृद्ध पुरुष का है। यदि आपने डा० चतुर्भुज को देखा हो तो आप तत्काल कह उठेंगे कि यह फोटो उनके पिता का है, और आपकी यह बात सौ फी सदी सच होगी।

उनके शयनगृह में एक वृद्धा स्त्री का फोटो टँगा है। उस स्त्री के चेहरे की झुर्रियाँ आपको स्पष्ट रूप में दीख पड़ेंगी। यदि आप डा० चतुर्भुज से कुतूहलपूर्वक प्रश्न करें कि 'यह किसका फोटो है?' तो वे उत्तर देंगे कि 'यह फोटो हमारी सास जी का है।' यदि आपने डा० चतुर्भुज की पत्नी महाशया को देखा हो तो आप उनका यह उत्तर सही मान लेंगे। तब डाक्टर मन ही मन कहेंगे, 'ये महाशय भी उल्लू बन ही गये।' और शरारत से हँस पड़ेंगे।

वास्तव में वह फोटो उनकी सासजी का था ही नहीं। वह फोटो था......।

ठहरिये, उसी का तो रहस्यपूर्ण तथा सरस इतिहास आपको सुनाना है।

घड़ी ने जब साढ़े चार का अद्धा बजाया तब डा० महोदय एकदम चौंक पड़े और जिस किताब को वे पढ़ रहे थे वह नीचे रखकर घड़ी की ओर देख मन ही मन बोले, 'अरे किताब पढ़ने में देर हो गई। पाँच बजे सुशीला देवी आनेवाली हैं और मैं अभी तक उनके स्वागत की कोई तैयारी नहीं कर सका। कोई बात नहीं, सब कुछ हुआ जाता है।' वे कुरसी से उठे तथा दाढ़ी बनाने का सामान लेकर दाढ़ी बनाने लगे।

डाक्टर ने घोंट-घोंटकर दाढ़ी बनाई। दाढ़ी बनाते समय उनके

मस्तिष्क में सुशीला देवी के ही विचार आ रहे थे। उनका मुग्ध प्रेम आज प्रस्फुटित होने वाला था। आज वे अपने मूक प्रेम को वाणी प्रदान कर सुशीला देवी के सम्मुख उसे प्रकट करनेवाले थे। 'सुशीला मेरे प्रेम को स्वीकार करेगी ?' उन्होंने शीशे में अपना चेहरा देखा। उनकी उम्र चालीस के करीब थी, किन्तु वे युवक से जँच रहे थे। उनके शरीर पर वृद्धावस्था के विशेष चिह्न दृष्टिगोचर नहीं थे। हाँ, बढ़ती हुई उम्र रूपी पारस के स्पर्श से उनके सिर के कुछ कुछ बाल रुपहरे होने लगे थे। किन्तु यह बात सहज ही में किसी के ध्यान में आनेवाली नहीं थी। हाँ, उनके मुख में दाँत अवश्य ही नहीं थे—किन्तु विश्वास मानिये वे वृद्धावस्था के कारण गलकर नहीं गिरे थे, वरन् एक नामवर दन्त-वैद्य के चिमटे से उखड़वाये गये थे और उसी से डाक्टर चतुर्भुज के शरीर से संधीवात नामक रोग का उच्चाटन भी हो गया था। उसी दन्त-वैद्य ने उनको जो सुन्दर बत्तीसी बनाकर दी थी उसे मुख में जमाते ही डाक्टर एकदम नोजवान दीखने लगते। कमर में अभी जरा भी कमान नहीं आ पाई थी।

'सुशीला देवी, मेरी सुशीला, मेरी सुशा ! अवश्य ही मेरे प्रेम को स्वीकार करेगी—मेरे शरीर पर अभी जवानी खेल रही है।' उन्होंने आवेग से शीशे में देखा तथा संतोष की एक दीर्घ श्वास छोड़ दी।

दाढ़ी बन जाने पर अत्यन्त सुवासित साबुन से मुँह धोया, उस पर क्रीम लगाया। आज उनकी दाढ़ी कितनी चिकनी तथा चमकीली हो गई थी कि देखते ही बनती थी। बालों पर एक कीमती पोमेड लगाकर सँवारा, उन्हें ब्रश से जहाँ के तहाँ जमाया। मुँह धोते समय निकालकर रखी बत्तीसी अब अपने मुख में जमाना ही चाहते थे कि हाय...।

उसी समय उनका सर्वस्व नष्ट हो गया।

इस महत्वपूर्ण कार्य के समय उन्हें जो जोर की छींक आई उसने सारे काय पर पानी फेर दिया। वह छींक अत्यन्त अशुभ साबित हुई।

मुँह धोते समय उनकी नाक में एक उधमी जल-बिन्दु रह गया। लेकिन कुछ समय पश्चात् उस अँधेरी गुफा में रहना उसे असह्य हो उठा और उसने मुक्त होने के लिए क्रान्ति मचाना आरम्भ कर दिया। इस क्रान्ति की हलचल से मज्जातन्तु के सैनिक हिल उठे और उन्होंने उच्चतम मस्तिष्क की राजधानी में रहनेवाली केन्द्रीय सरकार की ओर तावड़तोड़ सन्देश भिजवाये। हुक्म हुआ कि उस बदमाश क्रान्तिकारी को निर्वासित कर दिया जाय। सजा इतने उत्साहपूर्वक अमल में लाई गई कि वह पानीदार क्रान्तिकारी तो निर्वासित हुआ ही साथ में डाक्टर साहब के मुख में सुशोभित उस बत्तीसी ने इतने जोर से उड़ान लगाई कि वह दूर पत्थर के फर्श पर जा गिरी और उसके टुकड़े टुकड़े हो गये।

एक क्षण भर डाक्टर साहब उन टुकड़ों की ओर विस्फारित नेत्रों से देखते रहे, फिर दूसरे क्षण उन टुकड़ों का वास्तविक अर्थ उनके ध्यान में आ गया और उसकी भयानकता को भी उन्होंने अनुभव किया। उन्हें लगा मानों ये बत्तीसी के टुकड़े दाँत निपोरकर कह रहे हैं कि सुशीला पर होनेवाला तुम्हारा प्रेम भी इसी प्रकार टुकड़े-टुकड़े हो जायगा।

वे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। क्या करें क्या न करें, उनके ध्यान में कुछ नहीं आ रहा था। सुशीला देवी के आगमन में केवल पाँच मिनट की ही देर थी। इस अल्प समय में दूसरी बत्तीसी की व्यवस्था होना नितान्त असम्भव था। सोचने लगे, इस बत्तीसी से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु इस अवनी तल पर दूसरी कोई नहीं है। यदि इस समय स्वयं परमेश्वर एक हाथ में डाक्टर के मुँह में फिट बैठनेवाली बत्तीसी तथा दूसरे हाथ में त्रिभुवन का राज्य लेकर आता तो डा० चतुर्भुज इस समय केवल बत्तीसी का ही वरदान माँगते।

यन्त्र की भाँति उन्होंने बत्तीसी के टुकड़े-टुकड़े एकत्र करके टेबल की दराज में रख दिये। उन्होंने शीशे में अपना मुँह देखा। वह उन्हें किसी भग्न देवालय-सा प्रतीत हुआ। उनका नियम था कि जब तक बत्तीसी फिट न कर लेते तब तक अपना मुँह शीशे में नहीं देखते थे। बिना बत्तीसी लगाये शीशे में मुँह देखना उन्हें पसन्द भी न था। सुशीला देवी का आना निश्चित था। उसे टालना भी अब उनके हाथ की बात नहीं रह गई थी। सुशीला देवी मेरे चेहरे की ओर देखेंगी तब मेरा चेहरा—उफ् उस कल्पना मात्र से ही वह काँप उठे—उन्होंने शीशे में देखा ऊपर का ओंठ अन्दर घुस गया था। नाक से लगाकर ओंठों तक की झुर्रियाँ और भी गहरी हो गई थीं। कुछ बोलने का प्रयत्न करने पर वे एक विचित्र प्रकार से हिलने लगते। बत्तीसी लगते ही ऊपर उठने वाले गाल इस समय बिलकुल चपटे होकर नीचे की ओर लटक से गये थे। मुँह खोलते ही उन्हें लगा कि जैसे वह कलई पोता हुआ मिट्टी का बर्तन ही हो। डाक्टर का दिल बैठ गया। उन्हें लगा वे अब बिलकुल वृद्ध हो चुके हैं। उन्हें बार-बार एक ही विचार सता रहा था, 'सुशीला देवी के आने पर किस मुँह से अब उनका स्वागत करूँगा। मेरा दन्तहीन वृद्ध मुख...'

उद्वेग और निराशा से वे पास की आराम कुर्सी पर लेट गये। सामने रखी घड़ी टिक टिक कर रही थी। मानो उन्हें जता रही थी, 'देख एक एक क्षण करके समय निकला जा रहा है। एक बार निकला समय फिर हाथ आता नहीं है। एक-एक क्षण अत्यन्त कीमती है। कुछ उपाय कर वरना परिणाम अत्यन्त भयानक होगा। तेरा यह वृद्ध दन्तहीन मुख देख सुशीला तुझसे हरगिज प्रेम नहीं करेगी—पसन्द भी नहीं करेगी। देख, सम्हल, टिक् टिक्...'

आराम कुर्सी पर पड़े-पड़े ही घड़ी की ओर विषण्ण दृष्टि से देख रहे थे। सामने ही उनके पिताजी का फोटो टँगा था। किन्तु इस

समय वह भी उन्हें दीख नहीं रहा था। उनके मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु उपस्थित संकट को निवारण करने का उपाय सोचने में अपनी पराकाष्ठा कर रहे थे; पर इस विकट परिस्थिति से छुटकारा दिलाने का एक भी मार्ग उन्हें नहीं मिल रहा था। अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि सुशीला के आते ही दंत-बत्तीसी के बारे में स्पष्ट रूप से घटना उसे सुना और समझा दी जाय फिर जो कुछ होना होगा, होगा।

घड़ी ने पाँच बजाये और द्वार पर 'खट्-खट्', किसी नाजुक हाथ की थपकियाँ सुनाई दीं। डॉ० चतुर्भुज एकदम चौंककर उठ खड़े हुए। सामने ही उनके पिताजी के फोटो पर उनकी नजर पड़ी। जिस बात को सोचने के लिये—किसी संकट से छुटकारा पाने के लिये—हम घंटों सोचते रहें और कोई उपाय न सोच पायें और निराश होकर बैठ जायें, किन्तु कोई शुभ क्षण ऐसा भी आता है, जब एक ऐसी स्फूर्ति हमारे हृदय में उत्पन्न होती है कि कठिन से कठिन समस्या का हल अपने आप निकल आता है और हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं कि घंटों विचार करने पर भी इतनी जरा सी बात ध्यान में क्यों नहीं आ सकी? डॉ० चतुर्भुज का भी ऐसा ही हुआ। पाँच की घंटियों की ध्वनि उनके मस्तिष्क में सुप्त ज्ञानतन्तुओं ने सुनी और वे हड़बड़ा कर सजग हो उठे। अपने पिता का फोटो उन्होंने निरख कर देखा और शीशे के सामने जाकर खड़े हो गये। शीशे में अपने प्रतिबिम्ब की पिताजी के फोटो से तुलना करने लगे। उनका झुर्रियों भरा चेहरा स्मित हास्य से किंचित प्रफुल्लित हो उठा। उपस्थित संकट से छुटकारा पाने का उपाय उसी क्षण उन्होंने निश्चित कर लिया।

यह सब लिखने में जितना समय खर्च हुआ उसके एक-दशांश भी उसके कार्यान्वित होने में खर्च नहीं हुआ। सुशीला के हाथ द्वार पर शीघ्रतापूर्वक जोर जोर से थपकियाँ देने लगे। उसके हाथ की सोने की

खनन्-खन् बज उठीं और डॉ० चतुर्भुज को लगा, जैसे उस ध्वनि में कोमलता नहीं, वरन् अधीरता स्पष्ट रूप से विद्यमान है। डॉ० उठे और उन्होंने धीरे से द्वार खोल दिया तथा कमर को थोड़ी झुका अपनी कुर्सी की ओर लौट पड़े।

सुशीला देवी अन्दर आते ही बोल उठीं—'यह भी कोई ठट्ठा है डाक्टर! द्वार पर कितनी देर तक खड़ा रहना पड़ा मुझे।' सुशीला के ये शब्द प्रेम में सराबोर थे। किन्तु वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही डॉ० चतुर्भुज के दंत-विहीन मुख पर उनकी नजर पड़ी। उसे देखकर वह इतनी अधिक चौंकीं कि यदि उनके सिर पर साँप गिरता तब भी शायद इतनी न चौंकतीं। दाँतों तले जीभ दे डॉ० की ओर विस्फारित नेत्रों से देखती ही रहीं।

डॉ० चतुर्भुज ने गंभीरता-पूर्वक प्रश्न किया—'आप किसे खोजती हैं?'

अपने निर्दन्त मुख से निकलने वाले शब्द उन्हें तोतले और विचित्र लगने लगे। उन्हें भ्रम हुआ कि उनके अपने ही कंठ से कोई वृद्ध बोल रहा है। इतनी वह आवाज विचित्र और निराली थी। जब उनकी ही यह अवस्था थी तो सुशीला की अवस्था तो और भी विचित्र हो गई हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। डॉ० चतुर्भुज के मुख पर एक कटाक्ष फेंक अल्प समय में ही स्त्री-सुलभ निरीक्षण कर उन्होंने डॉ० के पिता के फोटो की ओर देखा। समझ गईं कि उनसे कोई भयानक भूल हो गई है और वह कुछ झेंप सी गईं।

'आपको किसकी आवश्यकता है?'

सुशीला की उलझी हुई मनःस्थिति को देख डॉ० ने वही प्रश्न फिर किया।

'नहीं...हाँ, डॉक्टर हैं क्या घर में?' सुशीला की घबराई हुई मुखाकृति, उसका स्वर कम्पन, अंग-विक्षेप आदि डॉ० को लोभनीय तथा कमनीय

प्रतीत हुए। विशेष रूप से उसका मुखमंडल तो बहुत ही रमणीय लगा। उस मोहक मुख की ओर देख डॉक्टर बेसुध से हो गये। वे यह भी भूल गये कि उन्हें अपने पिता की भूमिका निभाना है। वे बोले—'हाँ, हाँ, नहीं, नहीं, आँ? डॉक्टर, हाँ डाक्टर हैं, नहीं हैं। कौन डॉक्टर?'

असावधानता में वे 'हाँ' तो कह गये, किन्तु इस 'हाँ' को कहते समय उनका निचला ओठ एकदम आगे को बढ़ा और डॉक्टर तुरन्त सुध में आ गये और अपने को संभालने का प्रयत्न करने लगे।

'डॉक्टर—डाक्टर यानी, डॉक्टर चतुर्भुज आपके सुपुत्र।' सुशीला देवी ने स्पष्ट रूप से ही कह दिया। वह इस समय एक वृद्ध की ओर जिस आदर भाव से देखना चाहिये उसी भाव से देख रही थीं।

'ओ सारी! ऐसा, डॉ० चतुर्भुज! अजी वे आपके डॉक्टर होंगे।' डॉ० चतुर्भुज हँस कर बोले—'किन्तु हमें तो अब तक वही अपना चतुर है। देखा, ऐसा होता है। कोई उसे डॉक्टर कहता है तो मेरे ध्यान में उसके डॉक्टर होने की बात एकदम आती ही नहीं है। डॉ० चतुर्भुज को तलाश कर रही हैं आप। हाँ, वे गये हैं देहात। एक सीरियस केस आ गया और उन्हें जल्दी में जाना ही पड़ा। हमारे देहात का ही केस था। मैं यहाँ आया और उसे वहाँ भेज दिया। पत्र भेजने का इरादा था मेरा; किन्तु हमारा चतुर—आपके डॉक्टर चतुर्भुज—सम्भव है आता ही होगा। क्योंकि काम तो यहाँ भी अधिक है।' अब डॉ० चतुर्भुज की ट्रेन सीधी रेल की पटरी पर घड़घड़ाती हुई चली जा रही थी।

'वे कब तक लौटेंगे?' सुशीला देवी के शब्दों में निराशा की ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही है यह अनुभव कर डॉ० आनन्दित हुए।

'वे पाँच छः दिन में लौटेंगे।' नई बत्तिसी के बनवाने में जितना समय खर्च होगा उसका हिसाब लगाकर डॉ० ने फिर कहा—'क्या आपको उनसे कुछ विशेष काम है?'

सुशीला देवी वादे के अनुसार मिलने आई हैं यह मालूम होते

हुए भी डॉ० ने शरारत से कहा।

'मैं नर्स सुशीला हूँ। मेरा भी एक सीरियस केस दिखाना था उनको।' सुशीला देवी भी कुछ कम न थीं।

'ऐसा! किन्तु अब क्या हो सकता है? वे यहाँ हैं ही नहीं।'

'ठीक है। तो मैं अब जाती हूँ।' कहकर सुशीला देवी नमस्कार कर चली गईं।

अपने अभिनय की सफलता पर डॉ० चतुर्भुज को बहुत ही प्रसन्नता तथा संतोष हुआ। इस विजयानन्द की खुशी में उन्होंने एक सिगरेट सुलगाई, और आराम कुर्सी पर लेट कर विगत घटनाओं का स्मरण करते हुए धुएँ के बादल बनाने लगे।

इसी समय द्वार पर फिर खट-खट्' की आवाज सुनाई दी। इस आवाज की कठोरता से वे जान गये कि बाजार गया उनका नौकर गनपत लौट आया है। डॉ० का दंत-विहीन मुख देखने की आदत गनपत को थी इसलिए उनकी ओर देखने पर उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। डॉक्टर भी घबराए नहीं। उन्होंने शान्ति-पूर्वक द्वार खोल दिया था। फिर उससे कहा—'गनपत!'

'जी सरकार!'

'कोई भी आये तो उससे कहना डॉक्टर अपने देहात गये हैं समझे!'

'और सरकार, सुशीला देवी जी आईं तो?' डॉ० के रोमान्स का पता गनपत को होने से उसने तत्परता-पूर्वक, गंभीरता से प्रश्न किया।

'गनपत, अधिक बकबक न किया करो। 'कोई भी आये' जब कि यह मैंने तुमसे कहा है तब सुशीला देवी को भी यह नियम लागू है। समझे! कोई भी आये।'

गनपत को इस प्रकार ताकीद कर वे फिर संतोष-पूर्वक आराम-कुर्सी पर लेट गये।

बेचारे डॉ० चतुर्भुज को क्या पता था कि इससे भी अधिक संकट-

पूर्ण परिस्थिति निर्माण होने वाली है।

डॉ० चतुर्भुज इस संसार में अकेले थे। उनकी प्रथम पत्नी को मरे दस बारह वर्ष बीत चुके थे। उनके हृदय पर गहरी चोट लगी थी। विधुरावस्था के ये दस-बारह वर्ष जिस भीषण रूप से उन्होंने बिताये थे उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। पत्नी के वियोग की अग्नि उन्हें जलाती रहती। इन दस-बारह वर्षों में उनका यदि कोई साथी था तो वह सिगरेट थी। ज़हर से ही ज़हर नष्ट होता है, इस कहावत के अनुसार वे अपनी वियोगाग्नि को सिगरेट की आग से शान्त करने का प्रयत्न करते रहते।

कुछ समय पूर्व ही उनके इस एकाकी जीवन में सुशीला देवी ने प्रवेश किया था। अपने प्रेम का सिंचन कर वे उस वियोगाग्नि का शमन करेंगी यह आशा उनके अन्तःकरण में उत्पन्न हो चली थी। उनकी यह प्रेम-भावना सफल होने के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। किन्तु फिर भी बेचारे डॉ० चतुर्भुज सुखी न हो सके, क्योंकि अब प्रेम की हूक उन्हें प्रतिक्षण सताने लगी थी। यह हूक ऊपर से जितनी ही शान्त थी परिणाम में उतनी ही भयंकर थी। एक क्षण को भी सुशीला की मूर्ति उनकी आँखों से ओझल नहीं हो पाती थी।

हमारे नायक-नायिका का प्रथम परिचय जिस परिस्थिति में हुआ वह असाधारण थी। उस समय वसन्त ऋतु नहीं था। कोकिल कूजित वातावरण नहीं था। प्रेमी-प्रेमिका को मस्त बना देने वाली पुष्पों की मादक सुगंध भी उस समय नहीं बह रही थी। बम्बई के एक विशाल अस्पताल में एक मरणासन्न रोगी के पलंग के पास दोनों ने प्रथम एक दूसरे को देखा। वहाँ उस समय वसन्त ऋतु की रमणीयता नहीं थी—मृत्यु की भीषणता थी। कोकिल-कूजन नहीं था—मृत्यु खर्ज में घरर घरर गा रहा था। पुष्प-सौरभ नहीं था—जंतु-नाशक दवाइयों के गंध से वह वार्ड भर गया था। ऐसे नीरस और अरुचिकर वातावरण में मदन

ने अपने बाण चलाये। जिससे विधवा सुशीला देवी और विधुर डा० चतुर्भुज दोनों उन बाणों से घायल हो गये। प्रथम दृष्टि में ही एक दूसरे के हृदय की भूख से वे परिचित हो गये। जिस रोगी का वे इलाज कर रहे थे उसकी नाड़ी की गति मंद पड़ती जा रही थी, तो इधर इन दोनों की नाड़ी की गति तीव्रता से बढ़ती जा रही थी। बीमारी के कारण उस रोगी की हृदय-क्रिया मन्द पड़ने लगी, तब इन दोनों के हृदय किन्हीं उच्छृङ्खल भावनाओं से चंचल हो उठे। रोगी के शरीर में रक्त प्रवाहित करने के लिये ये दोनों उसे अनेक प्रकार के इंजेक्शन दे रहे थे, किन्तु उनके अनजान में दोनों के हृदय मदन-बाण से रक्त-रंजित हो गये थे। इधर रोगी सन्निपात में बड़बड़ा रहा था तो उधर दोनों प्रेमियों के हृदय मूक भाव में प्रेम-पुराण पढ़ रहे थे। जब रोगी का शरीर ठंढा पड़ने लगा, उस समय उन दोनों के हृदयों में रक्ताभिसरण बाढ़ आई हुई नदी की तरह बढ़ने लगा और उनकी देह प्रेम की गरमी से गरमा उठी। अंत में रोगी मर गया तो उन दोनों को लगा आज हमारा भूतकालीन जीवन समाप्त होकर प्रेम-पूरित पुनर्जन्म हुआ है।

उसी दिन से उन दोनों में स्नेह की ज्योति प्रज्वलित होकर अधिक से अधिक सतेज होती गई। दोनों के जीवन का अंधकार विनष्ट होकर प्रेम-प्रकाश से आलोकित होने लगा। डा० चतुर्भुज मुक्तकंठ से अपना भूतकालीन इतिहास सुशीला देवी को सुनाते रहते। और वह मन लगाकर सुनती रहतीं। किन्तु डा० अब तक अपने जीवन की एक घटना नहीं सुना सके थे। जिस मुख से वे अपने जीवन की घटनाएँ सुनाते वह मुख बनावटी दाँतों से सुशोभित है यही एक बात सुशीला देवी से उन्होंने नहीं कही थी। यह बात उन्होंने जानबूझ कर न कही हो सो बात नहीं है। अपने दाँत बनावटी हैं यह बात वास्तव में वे भूल ही गये थे। बत्तीसी के अस्तित्व की कल्पना ही उन्हें नहीं रही थी—इतनी वह उनके जीवन से घुल मिल गई थी। अब वे यह सोचकर

और भी चुप हो गये थे कि सुशीला देवी से यह बात पुनर्विवाह होने के अनन्तर ही कहना योग्य होगा। किन्तु दुर्भाग्य से प्रेम-याचना के मौके पर ही वह बत्तीसी टूट गई और यह भीषण प्रसंग आ उपस्थित हुआ था।

डा० चतुर्भुज मन ही मन आनन्दित हो रहे थे कि उपस्थित संकट से वे अभी तो सफलता-पूर्वक छुटकारा पा चुके हैं। अब संध्या होते ही वे किसी डेन्टिस्ट की दूकान पर जाकर अपनी बत्तीसी शीघ्रातिशीघ्र बना देने के लिये उसे अपने दाँतों का नाप दे आयेंगे। तब वे सुशीला देवी से फिर डा० चतुर्भुज के रूप में स्पष्ट रूप से मिल सकेंगे। सुशीला से सम्बन्धित इन आनन्ददायक विचारों का वे एक घंटा भी आस्वाद नहीं ले सके। उनके नौकर ने उनकी तन्द्रा भंग करते हुए कहा—'सुशीला देवी की ओर से यह पत्र आया है।' डा० चतुर्भुज ने झट से नौकर के हाथ से पत्र छीन कर पढ़ा—

श्रीमान् शर्माजी (डा० चतुर्भुज शर्मा के पिताजी) को सादर प्रणाम—

आप यहाँ देहात से पधारे हैं यह मैंने अपनी माताजी से निवेदन किया तो वे बहुत ही प्रसन्न और आनन्दित हुईं। आपसे वे पूर्ण रूप से परिचित हैं ऐसा उन्होंने कहा। आज संध्या समय उन्होंने आपको भोजन के लिये निमंत्रित किया है। एक सीरियस केस के लिये मैं कुर्ला जा रही हूँ। यही कारण है कि मैं स्वयं आकर निमंत्रण नहीं दे सकी। आशा है आप इसका बुरा नहीं मानेंगे और भोजन के लिये अवश्य ही पधारेंगे। माँ राह देखेंगी।

—सुशीला

पुनश्च—भोजन का प्रबन्ध आपकी प्रकृति को लक्ष्य करके ही किया गया है। चबाने में नरम और पचने में हलके पदार्थ ही बनाये जायेंगे, अतएव अवश्य ही पधारने का कष्ट करें।

—सुशीला

अत्यंत प्रयास से, अनेक संकटों को परास्त कर किसी पहाड़ की चोटी पर पहुँचने पर संतोष की साँस लेने के पूर्व ही कोई पीछे की ओर ढकेल दे और हम फिर पहाड़ की तलहटी में पहुँच जायँ, ऐसा ही डा० चतुर्भुज को सुशीला का पत्र पढ़ने से लगा। एक संकट पर विजय पाने के हेतु जो दाव चले थे उसमें से ही अब एक नया संकट उत्पन्न हो गया था।

सुशीला की माँ है या नहीं वे नहीं जानते थे। ऐसे व्यर्थ के प्रश्न पूछने की डा० चतुर्भुज को अब तक आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। बैठे बैठे गप्पे लड़ाने में एक अभूतपूर्व आनन्द का उपभोग लेते रहे और ये साधारण बातें सुशीला से पूछने का अवकाश ही नहीं मिला उन्हें। अब मालूम हुआ कि सुशीला के माँ भी है। और विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि वह मेरे पिता से पूर्ण रूप से पूर्व-परिचित भी है। उन्होंने सर्वप्रथम यही सोचा कि वहाँ न जाना ही श्रेय-स्कर है। किन्तु कुछ देर बाद उन्होंने सोचा कि आज न जाने से मूल संकट टलता नहीं दीखता। आज नहीं कल उसके घर जाना ही होगा; क्योंकि बत्तीसी बनने में चार-पाँच दिन लग जायँगे तब तक इस रूप को छिपाना एकदम असम्भव है। आज का निमंत्रण टालने का फल केवल यही होगा कि आज का मरण कल पर रहेगा और इससे अधिक कुछ नहीं। एक बात और भी है। मेरा न जाना सुशीला को अखरेगा और वह नाराज हो जायगी। सम्भव है पिता का क्रोध पुत्र पर भी उतर आये।

इससे पूर्व सुशीला की माँ मेरे पिता से मिलने कभी अतीत में आई थी या नहीं। लाख चेष्टा करने पर भी उनकी स्मरण शक्ति काम नहीं दे सकी—उन्हें स्मरण नहीं आ सका। पिताजी का स्वर्ग-वास हुए आठ वर्ष हो चुके हैं। इससे पूर्व वे कभी उनसे मिलने आया करती होंगी। अर्थात् उनका परिचय बहुत पुराना होगा। मैं यदि गया

भी तो मेरे इस अभिनय पर उन्हें किसी प्रकार का संदेह होना असम्भव है। सुशीला की अनुपस्थिति रहेगी और मेरा अभिनय सफलता-पूर्वक पूर्ण हो सकेगा। इन सभी बातों का विचार कर सुशीला के घर जाने का ही उन्होंने निश्चय किया।

'पधारिये शर्माजी, मैं सोच रही थी, देखें आते भी हैं या नहीं!'

सुशीला के घर में घुसते ही एक वृद्धा स्त्री ने डॉ० चतुर्भुज का स्वागत करते हुए कहा।

'वाह! आपने आग्रह-पूर्वक निमंत्रित किया और मैं न आऊँ यह कैसे हो सकता है।' डॉ० चतुर्भुज इस अंदाज से बोल रहे थे मानो वे सचमुच ही उससे पूर्वपरिचित हैं। उन्हें यह देखकर भी संतोष हुआ कि उस वृद्धा ने डॉ० चतुर्भुज के पिता समझ कर ही उनका स्वागत किया है। एक क्षण में डॉ० ने उस स्त्री को निरख तथा परख लिया।

उस स्त्री की अवस्था पचास वर्ष के लगभग रही होगी। उसकी माँग में सिंदुर नहीं था। किन्तु दो-तीन झुरियाँ शोभा पा रही थीं, वहाँ सिर के बाल कुछ कुछ सफेद हो चले थे। आगे के दो दाँत गिर गये थे। चलते समय उसकी कमर भी कुछ झुकने लगती थी। इन दो एक बातों को यदि छोड़ दिया जाय तो सुशीला देवी में और उसकी माता में कोई अन्तर नहीं था। कितना अद्भुत साम्य था उन दोनों माता-पुत्री में! डॉ० चतुर्भुज को अपने और अपने पिता के साम्य की याद हो आई। वे बराबर अब उस वृद्धा की ओर देखने लगे। उन्हें लगा उन्होंने उस स्त्री को कहीं तो भी देखा अवश्य है। किन्तु कहाँ देखा है यह लाख चेष्टा करने पर भी उनके ध्यान में नहीं आ सका। सम्भव है कभी वे पिता जी से मिलने आई हों और उस समय देखा हो। यही कारण है कि उन्हें देखा सा लग रहा है।

वृद्धा ने शान्ति भंग कर कहा—'आप अब तक मुझे भूल नहीं सके।'

डॉ० ने न घबराते हुए तपाक से कहा—'आपको भूल सकना

क्या कभी सम्भव है ?'

'सच !'

'सच जानिये, मैं आपसे झूठ क्यों बोलने लगा।' डॉ० चतुर्भुज इस अभिनय तथा अपनी बातों पर मन ही मन आनन्दित हो रहे थे।

'नहीं जी सो बात नहीं है। आपने आज दस-पंद्रह वर्ष में एक दो अक्षर का पत्र भी तो नहीं भेजा, इसलिये कहा मैंने।' वृद्धा ने कहा।

'पत्र लिखने से ही परिचय बना रहता है ऐसा नियम नहीं।' डॉ० चतुर्भुज ने गोलमोल उत्तर दिया।

'ऐसा !' कनखियों से देखते हुए वृद्धा ने कहा—'तो उस समय के अपने वचनों को भी आप नहीं भूले होंगे। वे सब आपके ध्यान में होंगे ही। मुझे तो पूर्णतया विश्वास है कि आप भूलने वालों में से नहीं हैं।'

डॉ० सोच में पड़ गये। ये वादे वचन क्या चीज हैं ? यह एक नई बात क्या सुन रहा हूँ ! फिर भी डॉ० ने कह दिया 'हूँ'।

'आपको याद है वह दिन, जब आप कालेज में पढ़ते थे। मेरी आपकी प्रथम भेंट उस कालेज के बाग में ही तो हुई थी। वह दिन उफ् !'

'वाह, वाह, मुझे खूब याद है वह दिन।'

'और उस दिन के अनन्तर एक रात हम दोनों मिलकर सिनेमा देखने भी गये थे। याद है ?'

'हाँ, हाँ !' यंत्र की भाँति डा० चतुर्भुज ने कहा।

'और वे तुम्हारे पत्र, ओह कितने सुन्दर पत्र लिखें हैं वे आपने !'

'किन्तु आपके पत्रों से अधिक सुन्दर नहीं, आपके वे पत्र, उफ्।' डॉ० चतुर्भुज भी जो जी में आया बोल रहे थे।

'वाह, वाह, मैंने आपको कब पत्र लिखे ? वाह आप भी बस !' वृद्धा के स्वर में डॉ० को शरारत का आभास प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कहीं कुछ भूल हो रही है। किन्तु वे कम न थे, अपने को सँभाल कर बोले—'इसी

लिये तो कहा कि आपके वे पत्र बहुत सुन्दर थे। उत्तर की आशा से पत्र पर पत्र लिखे मैंने और उत्तर एक का भी नहीं दिया आपने। बस चुप्पी में भी एक सुन्दरता है।' और डॉ० चतुर्भुज ठठाकर हँस पड़े।

गर्दन को एक झटका देकर तथा आँखों को मटकाकर वृद्धा ने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं ? यह बात अच्छी नहीं लगती हमें।'

डॉ० चकित हो गये। वृद्धा का यह नखरा देख उन्हें लगा, यह नाजोअन्दाज, यह नखरा सुशीला का ही अच्छा लगता है, किन्तु उसकी इस वृद्धा माँ को यह शोभा नहीं देता।

'मुझे आप, 'आप-आप' सम्बोधन क्यों करते हैं ?'

'आप—वरन् तुम—अब बड़ी हो गई हो न ?' डा० यंत्र की भाँति बोले।

'किन्तु आप भी तो अब बड़े हो गये हैं। मुँह में एक दाँत भी बाकी नहीं बचा, सारे गिर गये। सच, आपके दाँत कितने सुन्दर थे जी।'

'हूँ' एक दीर्घ निश्वास छोड़कर डा० ने कहा—'होता ही है। आयु के साथ साथ यह सब कुछ होता ही है। आपके चेहरे में—च् च् च् तुम्हारे चेहरे में भी तो अब कितना अन्तर हो गया है। झुर्रियाँ भी तो पड़ गई हैं। वरना तुम्हारा मुखमंडल कितना सुन्दर था—देखते ही बनता था। समय का प्रभाव हर एक वस्तु पर पड़ता ही है।'

'हाँ, यह सब सत्य है; किन्तु समय का प्रभाव शरीर तक ही सीमित रहता भी है। मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सच जानिये मेरा मन अब तक पहले जैसा ही तरुण है। आपके सारे दाँत गिर जाने पर भी मेरा हृदय आपकी ओर उसी प्रकार आकर्षित है।'

डा० चतुर्भुज यह सुनकर एकदम चुप हो गये। उनके रोम-रोम से पसीना फूट निकला।

'दुर्भाग्य से मेरा विवाह आपसे न होकर दूसरे से हुआ। शरीर पर पति का अधिकार था। किन्तु मन तो मैं तुम्हें पहले ही अर्पण कर

चुकी थी, अतएव उस पर आज भी तुम्हारा अधिकार सुरक्षित है।' वृद्धा ने कहा।

डा० चतुर्भुज कुछ बोले नहीं, किन्तु उनके मन पर जो बीत रही थी उसे वे ही जान सकते थे। उनका मन विचलित हो उठा। यह बात जितनी ही बढ़ रही थी उनके मन पर उतना ही आघात हो रहा था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि इस अद्भुत वार्तालाप का अन्त कब और किस प्रकार होगा। वे विषयान्तर करने की गरज से बोले—'हाँ, भोजन तैयार हो चुका है न?'

'आप भी कितने उतावले हो जी।' वृद्धा ने क्रोध का अभिनय करते हुए कहा—'कितने वर्षों के बाद तो आपसे भेंट हुई। मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं है। कितनी भक्ति-भावना से तथा हृदय के हर्ष से बोल रही हूँ और आपको उसकी जरा भी परवाह नहीं है। आप भोजन के लिये उतावले हो रहे हैं। डाक्टर, सच जानिये तुम्हें जब से देखा है भूख-प्यास सब भूल गई हूँ। आपको आँखों से ओझल होने देना भी नहीं चाहती। बस बोलती रहूँ, बोलती रहूँ, जी यही चाह रहा है।'

'मेरी अवस्था भी यही है।' डा० चतुर्भुज द्वयर्थी बोले—'किन्तु क्या बोलूँ, यही सोच रहा हूँ। मैंने सोचा भोजन करने पर कुछ सोच पाऊँगा; क्योंकि तुम्हारे हाथ के बने सुस्वादु पकवान खाने के लिये मेरा मन उतावला हो उठा है।'

भृकुटि भङ्ग कर एक कटाक्ष फेंकती हुई वृद्धा बोली—'इस लगाव का कारण मैं जानती हूँ हाँ!'

'नहीं नहीं, सच जानिये।' डाक्टर इधर उधर देखते हुए किसी प्रकार बोल पाये। उन्हें वृद्धा के हाव-भाव और अंग-विक्षेप को देख चिढ़ भी हो आई और घृणा भी। फिर भी किसी प्रकार उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ का बना भोजन मुझे बहुत ही मीठा लगता है, यह तुम जानती ही हो।'

वृद्धा एकदम बोल उठी—'इसी लिये शायद विधवा-विवाह करने का वचन देकर आप अब तक खामोश रहे ! मुँह तक नहीं दिखाया आपने ।'

यह वाक्य सुनकर डा० चतुर्भुज को लगा मानो उनकी कुर्सी के नीचे बम-विस्फोट हुआ हो । वे एकदम चौंक पड़े । वे कहते गये—'क्या विधवा-विवाह ! तुमसे ? लेकिन फिर तुम्हारी पुत्री सुशीला क्या कहेगी ? मेरा चतुर क्या कहेगा ? समाज क्या कहेगा ? भावुकता के आवेग में उस समय मैंने कुछ भी कहा हो, किन्तु आज तो मैं सच जानो विधवा-विवाह के बिलकुल खिलाफ हूँ ।'

डा० चतुर्भुज को विधवा-विवाह करना था सुशीला से, उसकी बूढ़ी माँ से नहीं ।

'देखो, पुनः विचार कर कहो ।' वृद्धा कातर स्वर से बोली ।

'पूर्ण विचार करके बोल रहा हूँ मैं ।'

'फिर उस समय की वे शपथें, वे दिये हुए वचन, सब झूठ अभिनय मात्र । बोलो, बोलो क्या वह सब एक नाटक था ?'

डा० चतुर्भुज किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । क्या बोले सोच न पाते थे । उन्हें अपने पिता के चरित्र पर पूर्ण विश्वास तथा प्रगाढ़ श्रद्धा थी । अपने जीवन में उन्होंने इस प्रकार कुछ घोटाला कर रखा होगा इस पर वे विश्वास नहीं कर पाते थे । वे सोच रहे थे, छिः छिः मेरे पिताजी कभी ऐसा नहीं करेंगे । उनका चरित्रबल दृढ़ था । अल्प समय पश्चात् ही उनका मन कहता, मानवीय दुर्बलताएँ तो सभी में होती हैं । पिताजी भी तो मानव ही थे । संत-महंतों के जीवन भी नाटकीय घटनाओं से परिपूर्ण होते हैं । वे कुछ सोच फिर बोले—'अरे वे शपथें और वे वचन सभी सच हैं किन्तु अब इस आयु में धर्म का विनाश कैसे करूँ ? स्वर्ग में मेरे पितर क्या कहेंगे ? वे मेरे मुँह पर स्वर्ग से थूकेंगे ।'

'आप विधवा-विवाह के इतने खिलाफ हैं !'

'हाँ।'

'तब जो कुछ होना था हो चुका। मेरे अन्तःकरण की सारी आशाएँ मर चुकीं। मैं उन्हीं आशाओं के बल पर ही तो जी रही थी। मेरा जीवन आपने धूल में मिला दिया। हे ईश्वर, अब मैं क्या करूँ ? हाय रे हाय ! आप कितने निष्ठुर हैं। बोलो, बोलो ! एक शब्द तो प्रेम...' आँचल से आँसू पोंछती वह वृद्धा पास की आरामकुर्सी पर एकदम गिर पड़ी।

डा० चतुर्भुज दो एक सेकंड विचार करते खड़े रहे। अपनी भूल को अनुभव कर वे सोचने लगे, 'मेरे पिताजी—यानी जिनका केवल अभिनय मात्र मैं कर रहा हूँ—वे विधवा-विवाह के विरुद्ध हैं यह कहने पर सुशीला से मेरा पुनर्विवाह कैसे हो सकेगा ? सुशीला से विवाह करने के मार्ग में ये ही सब अड़चनें मुँह बाये खड़ी हो जायँगी। चार-पाँच दिन में ही इस 'पिता-अभिनय' का अन्त हो जायेगा। तब तक इस वृद्धा को निराश करना उचित नहीं है। प्रेम का अभिनय कर इस वृद्धा को बनाने में ही हित है। यही सोच वे बोले—'अजी मैं तुमसे मजाक कर रहा था समझीं ! अहा हा, इतना भी नहीं समझ सकीं ! वाह !' यह कहते कहते डा० बिलकुल उसके पास चले गये। उसको अपनी बाहुओं में समेट लिया तथा अपने ओंठ उसके ओंठों पर रख दिये। ओंठों पर ओंठ रखते समय उन्हें लगा मानो रेड़ी के तेल का प्याला अपने ओंठों से लगा रहे हों।

रात में भोजन कर दोनों 'ब्लैक आउट' में घूमने गये।

दोपहर को उन्हें अपने पिताजी के प्रति इसलिये आदर हो आया था कि उनके अभिनय ने एक भयानक संकट से उनका छुटकारा किया था। अब उन पर उन्हें इसलिये क्रोध हो आया कि गत जीवन में इस वृद्धा को उन्होंने चाहे जैसे अविचारपूर्ण वचन दे रखने से वे

एक नये संकटजाल में फँस गये थे।

इस घटना के अनन्तर वे उस वृद्धा के साथ रोज घूमने जाते तथा अनिच्छापूर्वक उसके साथ प्रेम का अभिनय करते। उनका रोज का यह कार्यक्रम निश्चित सा हो गया था। संतोष इतना ही था कि सुशीला इस समय घर पर नहीं रहती थी। वह उस सीरियस केस के लिये कुर्ला चली जाती थी। वरना सम्भव है वह इस अभिनय को ताड़ जाती और सारा रहस्य खुल जाता। रोज शाम को वे ईश्वर से प्रार्थना करते कि हे दयानिधान, सर्वशक्तिमान ईश्वर! मेरी बत्तीसी जल्दी तैयार होने दे। सुशीला के सीरियस केस से जरा भी संबंध न होते हुए भी वे प्रार्थना का उपसंहार इस प्रकार करते, 'कम से कम मेरी बत्तीसी तैयार होने तक उस रोगी को जीवनदान दो भगवन्।' ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुनी और मंजूर की। वे इस नये संकट से पार हो गये।

अन्त में छः दिन के अन्दर उनकी नई बत्तीसी बनकर आ गई। डा० चतुर्भुज के आनन्द का वारापार नहीं था। गत छः दिन जिस कठिन परिस्थिति में उन्होंने बिताये थे उसे वे ही सहन कर सकते थे। इन दिनों उन्हें लगता था क्या मेरे ये दुर्दिन कभी समाप्त ही नहीं होंगे? क्या मेरी बत्तीसी इसी जीवन में तैयार होकर आ सकेगी? अपने स्वर्गवासी पिताजी के—जिन्हें पिताजी कहते संकोच होता—प्रेम का प्रतिदान देने में उनकी जो विडम्बना हुई वह भी वे एक तपस्वी की भाँति सहन कर गये। गत छः दिन उन्हें एक भयानक स्वप्न से प्रतीत होने लगे। बत्तीसी मुख में फिट कर वे कितनी ही देर तक शीशे में देखते रहे। और उन्होंने निश्चिन्तता-पूर्वक संतोष की साँस ली। अब उन्हें सुशीला की माँ का—उस बुड्ढी खवीस का—जरा भी डर नहीं रहा। वह बत्तीसी मानो उस बुढिया से संरक्षण पाने का सुदर्शन चक्र ही था। बत्तीसी लगाते ही वे पहले जैसे ही नव-युवक डा० चतुर्भुज हो गये। कायाकल्प से बुड्ढों को जवान बनानेवाली

दवाएँ सेवन करने से कोई तरुण बन सका हो या नहीं किन्तु यह अबाधित सत्य है कि डा० चतुर्भुज इस बत्तीसी के लगाते ही एकदम जवान हो जाते। बत्तीसी बनकर आते ही उन्होंने सुशीला देवी के पास सन्देशा भिजवा दिया कि 'डा० चतुर्भुज देहात से लौट आये हैं।' और सुशीला के आने की बाट जोहने लगे।

संध्या का झीना अन्धकार फैलता ही जा रहा था। पक्षी अपने नीड़ों की ओर लौटने लगे थे। डॉ० चतुर्भुज खिड़की से यह सब देख रहे थे; इसी समय उन्हें द्वार पर चिरपरिचित 'टिक टिक' सुनाई दी। उन्होंने अत्यंत उत्कंठा तथा आशा से द्वार खोला, परन्तु वे बहुत ही निराश हुए।

उन्होंने देखा सुशीला के स्थान पर उसी बुढ़िया को। उसे देखते ही बत्तीसी बनकर आने का आनन्द आधा रह गया। फिर भी उन्होंने धैर्य-पूर्वक इस प्रकार प्रश्न किया मानो वे उसे जानते ही नहीं हैं—'आप किसे पूछ रही हैं?'

[illegible] कोने में रखती हुई वृद्धा बोली—'आपको।'

'यानी कौन?' घबराकर डॉ० ने कहा।

'यह आप क्या पूछ रहे हैं, आप यानी आप ही श्रीयुत शर्मा जी डॉ० चतुर्भुज शर्मा के पिता।' वृद्धा ने डॉ० के चेहरे की ओर निरख कर देखा और बोली—'वाह, वाह, नये दाँत लगाये हैं। कितने सुन्दर हैं ये दाँत। तुम्हारा मुख अब कितना सुन्दर दीखने लगा है जी। मैं कहने ही वाली थी कि आप बनावटी दाँत लगाया करें।'

घटना इस प्रकार घटित होगी डॉ० चतुर्भुज को यह कल्पना भी नहीं थी। बत्तीसी लगाते ही मेरे डॉ० चतुर्भुज होने में जरा भी सन्देह नहीं रहेगा यही उनका सहज विश्वास था। वृद्धा के वाक्य से उनके हृदय को धक्का लगा, फिर भी वे अपने को संभाल कर बोले—'आप भूल कर रही हैं। मैं डॉ० चतुर्भुज हूँ—शर्माजी का पुत्र।'

'सच !' आश्चर्य से डॉ० की ओर देखती वृद्धा बोली। 'और शर्मा जी कहाँ गये ?'

'वे देहात गये हैं।'

'वाह वाह, आप यों ही कुछ कह रहे हैं। मुझे कहे बिना वे कभी नहीं जायेंगे।'

'वे गये हैं यह सच है। मैं आया और वे गये।'

'सच, बिलकुल सच कह रहे हैं यह आप ?'

'सच निश्चय समझें आप—ईश्वर को साक्षी कर कहता हूँ कि वे आज ही देहात चले गये।'

'हाय रे भाग्य !' कपाल पर हाथ ठोंक कर बुढ़िया एक आराम कुर्सी पर लुढ़क गई। और बड़बड़ाने लगी—'अब मैं किस बिरते पर यहाँ रहूँ। कितने वर्षों में तो भेंट हुई थी। सोचा था, अब वे मुझे छोड़ कर नहीं जायेंगे......'

बुढ़िया बोलते बोलते एकदम चुप हो गई और उसकी गर्दन कुर्सी पर लुढ़क गई। डॉ० को छः दिन पूर्व की घटना का स्मरण हो आया और वे सिहर उठे। कुछ भी हो उस प्रसंग की पुनरावृत्ति न होने देने का निश्चय किया। जब समय बहुत बीत चुका और बुढ़िया जरा भी नहीं हिली-डुली तब डॉ० घबरा गये उन्होंने पानी लाकर उसकी आँखों को लगाया तब भी उसने आँखें नहीं खोलीं। डॉ० को क्रोध हो आया। उन्होंने अंजुली में पानी लेकर बुढ़िया के झुर्रियाँ भरे मुख पर जोर जोर से छिड़कना आरम्भ कर दिया। उसका सारा मुँह पानी से तर हो गया फिर भी बुढ़िया होश में नहीं आई। डॉ० को उस पर दया आ गई। जेब से रूमाल निकाल कर बुढ़िया का मुँह पोंछने लगे और फिर जो कुछ उन्होंने देखा उसे देख कर तो वे आश्चर्य से स्तंभित ही हो गये। जोर जोर से पानी छिड़कने तथा रूमाल से पोंछने के कारण उसके चेहरे की सारी झुर्रियाँ धुल गयी थीं।

'कौन ? सुशीला देवी !' डॉ० चतुर्भुज आश्चर्य से बोल उठे। देवीजी शरारत भरी आँखों से उनकी ओर देखती मुस्करा रही थीं।

'तो छः दिन से आप ही मुझे छका रहीं थी क्यों ?' डॉ० चतुर्भुज ने कहा।

'और क्या आप मुझे छकाने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे ? पहले तो मैं तुम्हारे छकाने में आ गई थी, किन्तु थोड़ी देर बाद तुम्हारा भंडाफोड़ हो गया।'

'वह किस प्रकार ?'

'उस दिन मैं तुमसे विदा होकर घर जा रही थी। रास्ते में तुम्हारा नौकर मिला। मैंने उससे पूछा, 'क्यों रे, डॉ० के पिताजी आये हैं न ?' यह सुन कर वह जोर से हँस कर बोला, 'वाह जी वाह! वह तो स्वर्गवासी हुए कितने ही वर्ष हो गये हैं।' तभी तुम्हारा दाव मेरी समझ में आ गया। तब मैंने भी इस खेल में अभिनय करने का विचार किया।'

'वृद्धा का अभिनय तुमने कहाँ सीखा ?' डॉ० ने आत्मीयता से पूछा।

'वाह आप तो जानते हैं। हम नर्सेस ने मिलकर पिछले वर्ष एक नाटक खेला था। उसमें मैंने एक बुढ़िया का अभिनय किया था।'

'अच्छा, तभी तो मैं बार बार सोचता था कि इस बुढ़िया को पहले कहीं देखा ज़रूर है, पर कहाँ देखा है यह ध्यान में नहीं आ रहा था।'

'तुम भी खूब चंट हो। दिन में रूप-रंग मुझसे छिपाया न जा सकेगा यह सोच ब्लैक आऊट में ही मुझसे मिलते थे क्यों ?'

डॉ० चतुर्भुज को गत छः दिन फिर याद हो आये। वृद्धा से अनिच्छापूर्वक किया गया प्रेम का वह अभिनय उस समय विष तुल्य भले ही प्रतीत हुआ हो, पर अब वह उन्हें अमृत तुल्य प्रतीत होने लगा। विशेष रूप से एक प्रश्न तो उसने सफलता-पूर्वक हल

कर दिया था। सुशीला और डॉ० चतुर्भुज के बीच जो अन्तर था वह इन छः दिनों में अपने आप दूर हो गया था—वे एक दूसरे के नितान्त निकट आ गये थे। प्रेम का अवरुद्ध मार्ग आप ही आप खुल गया था। अब उन्हें सुशीला के सम्मुख प्रेम-प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। गत छः दिन जितने ही भयानक प्रतीत हुए उतने ही वे अब उन्हें रमणीय प्रतीत होने लगे।

'अब हम विवाह करके एक हो जायें।' डा० चतुर्भुज ने कहा।

'किन्तु आप तो विधवा-विवाह के खिलाफ हैं न?'

'हाँ, हाँ।'

'देखिये,' अत्यंत कमनीय भ्रूभंग कर सुशीला बोली, 'मुझे फिर चक्कर आने लगेंगे कहे देती हूँ।'

'आने दो, उसकी दवा अब भली भाँति मालूम हो गई है मुझे।'

यह जो दूसरा फोटो डॉ० चतुर्भुज के शय्यागृह में लगा है वह सुशीला का ही है। डॉ० ने इस प्रसंग को चिरस्मरणीय बनाने के लिये सुशीला के वृद्ध-वेश का चित्र बनवा कर अपने शय्यागृह में लगा रखा है। उसे देखते ही वे छः दिन स्मरण हो आते हैं और उनके अन्तःकरण में एक अभूतपूर्व आनन्द हिलोरे लेने लगता है।

जीरोइज़्म

यदि दो ही मिनट मुझे और मिल जाते तो मैं हेड मास्टर की गर्दन पकड़, उसे उठा दूर फेंक देता और कहता, 'जनाब ! मेरा चाहे जैसा अपमान करने का समय अब लद गया । मैं अब पहले जैसा साधारण नागर मास्टर नहीं रहा, बल्कि एक सेकंड क्लास बी० ए० पास असाधारण मास्टर हूँ । अधिक टिटफिट् करोगे तो इस्तीफा दे दूँगा । सेकंड क्लास बी० ए. पास के लिये नौकरियों की कमी नहीं है—वह उसके चरण चूमती घर बैठे चली आयेंगी । समझे !'

किन्तु मुझे हेड मास्टर से अपने विगत अपमानों का बदला लेने का अवसर नहीं मिला । मैं उसकी गर्दन पकड़ने दौड़ा ही था कि बाहर किसी ने आवाज दी और मेरी नींद खुल गई ।

घड़ी की ओर देखा तो एक बज गया था । बाहर से आवाज पर आवाज आ रही थी । मैंने अनिच्छा-पूर्वक द्वार खोल दिया । सामने अग्नि की लाल प्रकाशमान गोल बिन्दी दिखाई दी । आगन्तुक बीड़ी पी रहा था ।

'कौन है ?' मैंने पूछा ।

'मैं हूँ पाठक ।'

'क्यों भाई, इस समय कैसे ?' उसके बिलकुल निकट जाकर मैंने पूछा ।

'टहलने चलते हो ?'

'अभी, इस समय ?'

'हाँ, मुझे नींद ही नहीं लग रही है ।' पाठक ने कहा ।

और मुझे एकदम बी० ए० के नतीजे की याद हो आई । जो आज ही दोपहर को प्रकाशित हुआ था । मैं सेकंड क्लास में पास

हुआ था और पाठक ने तीसरी बार गोता खाया था। अब मेरी समझ में आया कि बी० ए० में फेल होने के कारण पाठक की स्थिति पागलों जैसी हो जाना असम्भव नहीं है। यही कारण है कि उसे आज नींद नहीं लग रही है। असफलता—कैसा भयानक शब्द है—इसी असफलता के कारण पाठक की आत्मा तिलमिला रही है, मुझे उसे सांत्वना देनी चाहिये। उसे धीरज देकर उसका समाधान करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। पाठक के प्रति मेरे हृदय में सहानुभूति की वेगवती धारा उमड़ पड़ी। मैं तत्काल शर्ट और चप्पल पहन उसके साथ घूमने निकल पड़ा।

सड़क पर आने पर बीड़ी का एक जोर का कश खींचकर पाठक ने कहा—'भाई आज मेरे हृदय में एक ही विचार बार-बार आ रहा है।'

'किस सम्बन्ध में ?'

'बस्ती के बाहर चलो, तब कहूँगा।'

और मेरा हृदय काँप उठा। मेरी आँखों के सम्मुख 'आत्महत्या' के अनेकों प्रकार नाच उठे। असफलता ऐसी ही भयानक चीज है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी 'आत्महत्या' के सिवाय और क्या विचार कर सकते हैं ! पाठक की पढ़ाई के लिये उसके कंजूस काका पैसा खर्च कर रहे थे और पाठक के फेल हो जाने से उनका पैसा व्यर्थ ही धूल में मिल गया था; अतएव दोनों में आज खूब लड़ाई हुई है और मेरा यह विश्वास पक्का हो गया कि पाठक आत्महत्या करने ही निकल पड़ा है। अब उसे किस प्रकार धीरज देकर उसके हृदय का समाधान कर आत्महत्या के विचार उसके हृदय से निकाल देने चाहिये, मैं चलते चलते यही सोच रहा था।

बस्ती से बाहर एक मैदान था। उस मैदान के नये प्लाट नग्री बस्ती के लिये कायम किये गये थे। हम दोनों उसी मैदान में एक जगह बैठ गये।

'हाँ भाई, तुम्हारे हृदय में कौन सा विचार आज बार-बार आ रहा है ?' मैंने बुजुर्गाना ढंग से सहानुभूति तथा प्रेमपूर्ण स्वर में कहा।

'विचार—मेरे हृदय में आज बार-बार एक ही विचार आ रहा है कि मुझे अब विवाह कर लेना चाहिये।'

रबड़ के गुब्बारे में खूब हवा भर लेने पर उसमें कोई आलपीन घुसेड़ दे तो उस गुब्बारे की जो स्थिति हो जाती है, ठीक वही स्थिति मेरे हृदय की भी हुई। पाठक के प्रति मेरे हृदय में सहानुभूति का सागर उमड़ पड़ा था। उसके मुख से दीनता भरा शब्द निकलते ही उस पर सहानुभूति के शब्दों की झड़ी लगा देने का मेरा विचार था। मैंने अपने मन में शब्द भी चुन रखे थे। किन्तु उसके मुख से ऐसे विचित्र शब्द सुनते ही मेरे हृदय के वे सारे भाव—सारे शब्द जहाँ के तहाँ विलीन हो गये। परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने की महान असफलता पर आँसू बहाने के बदले श्रीमान विवाह करने की सोच रहे हैं। मैं सोच नहीं पाता था कि क्या उत्तर दिया जाय। यदि मुझे उस समय यह मालूम होता कि विवाहोच्छुक उतावले वर के लिये भी दुनिया में सबसे अधिक सहानुभूति, धीरज और सांत्वना की आवश्यकता रहती है, तो अपने हृदय के उन सहानुभूतिपूर्ण भावों में कुछ उलट-फेर कर पाठक के सम्मुख प्रकट कर देता; किन्तु दुःख है कि उस समय मैं विवाहोच्छुक वर के हृदय के भावों से अपरिचित था।

'क्यों मेरा विचार तुम्हें पसंद है न ?' मेरी चुप्पी पर पाठक ने कहा।

'वाह, वाह ! तुम्हारा विचार कितना सुन्दर और सुयोग्य है !' मैंने उसकी खिल्ली उड़ाने की गरज से कहा—'श्रीमान्, क्या यही कहने के लिये इतनी रात को मेरी नींद का सत्यानाश कर यहाँ इतनी दूर ले आये हैं ? मेरा तो प्रामाणिक विचार था कि तुम बी० ए० में फेल हो गये हो इसलिये तुम्हारा हृदय रो रहा होगा।'

'अरे ह-ट्ट्ट।' एक विचित्र सुर निकाल कर पाठक ने कहा—

'उसमें रोने की क्या बात है भाई—वह तो एक मेरे लिये अबाधित सत्य है। किसी कवि ने कहा है कि मानव के लिये मृत्यु प्रकृति है और जीवन विकृति है। मेरा भी एक सिद्धान्त है फेल होना मेरी प्रकृति—स्वाभाविक घटना है और पास होना दुर्घटना है। अब तुम्हीं बताओ मुझे रोने की या बुरा मानने की क्या बात है?'

'चलो बातें न बनाओ। ये ज्ञान की बातें रहने दो।' मैंने फिर जोर से कहा है। 'यदि तुम्हें फेल होने का जरा भी दुःख नहीं था तो तुम आराम से गहरी नींद सोते। इतनी रात तक जगने का और क्या कारण हो सकता है तुम्हीं बताओ।'

'कौन कहता है कि मैं फेल होने के दुःख से तिलमिलाकर इतनी रात तक जागता रहा हूँ। अरे भाई! मेरे काकाजी के घर में खटमलों की असंख्य फौज ने धावा बोल दिया है। इसलिये मैं गहरी नींद कैसे सो सकता था। जब नींद लेने के सब प्रयत्न विफल हो गये तो सोचा चलो, यहाँ खटमलों की यातना सहन करने के बदले घूमने चलना और तुम्हारा वही हेड मास्टर-पुराण सुनना क्या बुरा है। जिसे सुनते सुनते ऊँघने का सुख तो प्राप्त होगा।'

मैं सोच नहीं पाता था कि क्या बोलूँ। थोड़ी देर बाद फिर पाठक कहने लगा—'नींद नहीं आ रही थी, तब सोचा कि तुम जैसे विद्वान लोग अपने जीवन के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने जीवन के सम्बन्ध में विचार करूँ। और मैं विचार करने लगा। तब मेरे मन में एक कल्पना उठी। सोचा, अब भविष्य में कालेज के उच्छृङ्खल प्रेम को तिलांजली देकर विवाह कर गम्भीर प्रेम की उपासना करना आरम्भ कर दिया जाय। हम जिस प्लाट पर बैठे हैं बस इसे मोल लेकर एक सुन्दर बँगला यहाँ बँधवाना और सुख से जीवन व्यतीत करना चाहिए। क्यों भाई, यह कल्पना कितनी सुखद और सुन्दर है!

पाठक के हवाई इरादों से मैं खूब परिचित था इसलिये उसके इस भाषण से मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ स्वयम् पाठक के पास उसकी अपनी एक भी कौड़ी नहीं थी। उसके कंजूस काका उसकी पढ़ाई का खर्च बड़ी खुशामद-बरामद करने के उपरान्त दे रहे थे। पढ़ाई का हाल यह था कि तीन-तीन वर्ष बी० ए० में फेल होते बीत गये थे। हाँ, मिस्टर पाठक की बातों में कमी नहीं थी। बातें भी मामूली नहीं प्लाट खरीद कर घर बँधवाने जैसी।

मैंने शरारत से कहा—'घर बँधवाने के लिये पैसा ससुराल से मिल ही जावेगा।'

पाठक ने तुरन्त उत्तर दिया—'ससुराल से पैसा लेते हैं तुम जैसे प्रतिवर्ष पास होने वाले ग्रेजुएट। विवाह के बाजार में अधिक से अधिक कीमत लगने की गरज से तुम लोग प्रतिवर्ष एक उपाधि प्राप्त करते रहते हो। जितनी बड़ी उपाधियों की शृंखला होगी विवाह के बाजार में उतनी ही अधिक कीमत मिलेगी। मुझे अपने पैरों पर खड़ा होना है। अपनी शक्ति के बल पर पैसा कमाना है। यही कारण है कि मैं बी० ए० पास नहीं कर रहा हूँ।'

'अच्छा यह बात है!' पाठक का कहने का ढंग इतना अधिक नाटकीय था कि मुझे हँसी आ गई। मैंने फिर कहा—'तो महाशय पाठक अब बी० ए० फेल होकर अमित सम्पत्ति प्राप्त करने का विचार रखते हैं!'

'अवश्य, अवश्य, तीन बार अवश्य! इसमें शंका करने का कोई कारण ही नहीं है। मुझे अपने बल पर विश्वास है तभी तो घर बँधवाने की बात कर रहा हूँ। समझे!'

'और वह घर ताजमहल से भी अधिक सुरम्य होगा, इसमें शङ्का करने का कोई कारण नहीं है।' मैंने भी हँसकर कहा।

'तुम मेरा कहना हँसी में टाल रहे हो। तुम्हें मेरे शब्द हवाई

इरादे प्रतीत हो रहे हैं और तुम मेरी खिल्ली उड़ा रहे हो, किन्तु भाई सच जानो पाँच वर्ष में इसी प्लाट पर घर बनवाऊँगा। प्रश्न केवल पैसे का है और पैसा...'

'काकाजी के पैरों पर गिरते ही पैसा ही पैसा—फिर क्या टोटा है।' मैं बीच ही में बोल उठा।

'काका के पैसों की मुझे आवश्यकता नहीं है। मुझमें पैसा कमाने की अकल है। डींग नहीं हांक रहा हूँ। पैसा मेरे हाथ का मैल है। अरे भाई, मानव स्वभाव की परख का थोड़ा ज्ञान होना आवश्यक है। उसके बल पर चाहे जिसको गधा बनाने में...'

'तुम जैसा।' मैंने टोक दिया।

'च च् च् च्! तुम बीच में ही बोल देते हो। पूरी बात सुनते ही नहीं। मेरा कहना तो सुन लो। मानव-स्वभाव की परख का ज्ञान होने पर चाहे जिसको गधा बनाकर पैसा कमाया जा सकता है। हाथ कंगन को आरसी की क्या आवश्यकता है। तुम्हारी-मेरी शर्त रही। तुम बी० ए० पास हो, मैं फेल हूँ। आज से ठीक आठ दिन के भीतर मैं अपनी बुद्धि के बल पर कम से कम दो सौ रुपये कमाकर लाता हूँ वरना तुम लाओ। बोलो।'

पिछले मास का मेरा वेतन अब तक समाप्त होकर एक पाई भी शेष नहीं रही थी। चालू मास के वेतन में भी प्राविडंट फण्ड, पाठशाला भवन निर्माण-समिति का चन्दा आदि कटकर मुझे केवल चौवालिस रुपये दस आने से एक पाई भी अधिक मिलनेवाली नहीं थी। अतएव मैंने कहा—'मैं तो तुमसे शर्त लेने में असमर्थ हूँ। तुम्हीं दो सौ रुपये कमाकर दिखाओ।'

'ठीक है। अजी आठ दिन बहुत हैं। इतने दिनों में दो सौ रुपये क्या चीज है!'

दो दिन के अनन्तर जब मैं पाठक के घर गया तो महाशय एक

बड़े ड्राइंग पेपर पर छोटे बड़े गोल-गोल कुण्डल बनाने में तल्लीन हो रहे थे।

'यह क्या कर रहे हो?' मैंने कहा।

'पूँजी।'

'पूँजी?'

'हाँ। अरे भाई, अगले सप्ताह दो सौ रुपये कमा कर तुम्हें दिखाना है न? तो उसके लिये पूँजी इकट्ठी कर रहा हूँ।'

'अच्छा, तो इस कागज पर रुपये जैसे गोल-गोल दो सौ कुण्डल बनाकर तुम मुझे दिखा दोगे क्यों?'

'तुम फिर मजाक़ करने लगे। मजाक़ छोड़ो। आठ दिन के अन्दर ही इन गोल-गोल कुण्डल का रूपान्तर रिजर्व बैंक के कोरे दो सौ रुपये के नोटों में करके ही तो तुम्हें दिखाना है।'

'वह किस प्रकार?'

'समय आने पर सब मालूम हो जावेगा।'

मैं चुप हो गया। उसने गोल कुण्डल बनाना अब बन्द कर दिया और रंग-बंग की प्यालियाँ और तूलिकाएँ लेकर उन गोल कुण्डलों में अलग-अलग रंग भरना आरम्भ कर दिया।

थोड़ी देर बाद पाठक ने कहा—'इस शनीचर को हमें शिकारपुर चलना है।'

'किस लिये?'

'व्याख्यान है।'

'व्याख्यान, वक्ता कौन है?'

'सुप्रसिद्ध चित्रकार पुर्णेन्दु चक्रवर्ती।'

'चित्रकार पुर्णेन्दु चक्रवर्ती, कौन हैं ये महाशय?'

'तुम अंधे हो क्या?' पाठक ने मेरी ओर आँखें तरेर कर कहा। तुम्हारे सामने इतने बड़े-बड़े पूर्ण चन्द्र बनाते हुए जो बैठे हैं वही।

'तुम!' मैं आश्चर्य से चिल्लाया।

'हाँ, मैं ही सुप्रसिद्ध चित्रकार पुर्णेन्दु हूँ और मेरा ही भाषण आगामी शनीवार को शिकारपुर में होनेवाला है।'

'किस विषय पर होगा तुम्हारा भाषण ?'

'चित्रकला और सौंदर्य-दृष्टि।'

'बाप रे बाप!' मैं चिल्लाया। 'विषय तो तुमने बड़ा गंभीर चुना है मि० पाठक। इतने बड़े गंभीर विषय पर विद्वत्तापूर्ण भाषण देने के लिये तुम्हें चित्रकला का पर्याप्त ज्ञान भी है ?'

'ऊँः ज्ञान न होना कोई विशेष बात नहीं है। जिस विषय पर हमें भाषण देना होता है उसका पूरा ज्ञान होना ही चाहिये यह किसने कहा तुम्हें ? फिर भी मुझे चित्रकला का ज्ञान बिलकुल ही नहीं है सो बात नहीं, मुझे उसका ज्ञान है।'

'तुम्हें और चित्रकला का ज्ञान! क्या श्रीमान् अपने ज्ञान का परिचय कराने का कष्ट उठायेंगे ?'

'चित्र, तूलिका तथा रंग की सहायता से कागज या केन्वास पर खींचे जाते हैं।' पाठक ने कहा।

'वाह, वाह!' मैं ठठाकर हँस पड़ा और कहा—'तुम्हारा ज्ञान अगाध है, वाह! अजी चित्रकार महाशय, यह बात तो सभी जानते हैं।'

'और विद्वान्, महाशय, जो बात सभी जानते हैं, वही बात वे बिलकुल नहीं जानते ऐसी उन्हें कल्पना करा—उसी बात को नये रूप से लोगों के सामने रखने के ढंग को कला कहते हैं। साधारण सी बात असाधारण होने का आभास करा देने की कला जिसमें होती है वही बुद्धिमान है यह बात तुम नहीं जानते। तुम वास्तव में जितने मूर्ख हो उससे कहीं अधिक मूर्ख हो, यह बात तुम्हें समझाने में मुझे जिस दिन यश प्राप्त होगा उस दिन मुझे अपनी बुद्धिमत्ता पर विश्वास होगा। समझे!'

'समझ गया भाई, पूर्ण रूप से समझ गया।' मैंने गर्दन हिला कर कहा।

थोड़ी देर बाद पाठक का रंग भरने का काम समाप्त हो गया। अनेक छोटे-बड़े गोलाकारों में रंग भरा गया था और कुछ आड़ी तिरछी आकृतियाँ भी खींची गई थीं। बोर्ड दीवाल से टिका मि० पाठक ने कहा—'क्यों, चित्र कैसा बना है, सच कहो?'

'मैं इसका सिर या पैर कुछ भी नहीं कह सकता हूँ—आय काण्ट मेक हेड आर टेल आफ इट।' मैंने अपना प्रभाव अँग्रेजी बोलकर प्रस्थापित करते हुए कहा।

'तुम बिलकुल मूर्ख हो।' पाठक चित्र की एक-एक आकृति पर उंगली रख कहने लगा—'यह पहाड़, यह नदी, नदी के किनारे के यह वृक्ष और उस वृक्ष के नीचे बैठा यह मनुष्य—।'

'यह मनुष्य है? वाह चित्रकार महाशय वाह! अरे इसके शरीर में ये बिच्छु के डंक क्यों लगाये गये हैं भाई?'

'अरे वे बिच्छु के डंक नहीं हैं उसके हाथ हैं।'

'ऐसा!' चार-पाँच गोलाकार एक से एक चिपका कर खींचे गये थे। मैंने उनकी ओर देखकर फिर कहा—'इन हाथों में ये गाँठें क्यों उभर आई हैं?'

'च्च्च्! वे गाँठे नहीं हैं महाशय, वह मेरी कला है।'

'कला!' मैं आश्चर्य से उछल पड़ा। 'यह कैसी कला है जी?'

'समय आने पर सब मालूम हो जायेगा।' मि० पाठक ने शान्तिपूर्वक कहा।

× × ×

हमारे गाँव से शिकारपुर तीस मील था। मोटर से जाना पड़ता था। अच्छा खासा कस्बा था। हम शनीवार को प्रातःकाल नौ बजे वहाँ पहुँच गये। पाठक के उस चित्र को चौखट में मढ़ उस पर कागज़

लपेट कर साथ में ले लिया था। पाठक के व्याख्यान का विज्ञापन बहुत जोर-शोर से किया गया था। वहाँ यह भी अफवाह थी कि श्री पूर्णेन्दु यूरोप और अमेरिका में भी ख्याति प्राप्त कर आये हैं। वहाँ उनकी कला का अत्यंत गौरव किया गया। और आज भी वहाँ उनके चित्रों की बहुत माँग है। इस अफवाह का उद्‌गम मि० पाठक का श्रीमुख ही था।

इस विज्ञापन का असर यह हुआ कि सभागृह खचाखच भर गया था। बड़े बड़े रायबहादुर, सेठ-साहूकार, आफीसर वर्ग सभी भाषण सुनने पधारे थे। उस असाधारण उपस्थिति की ओर देख मैंने घबराकर मि० पाठक से कहा—'क्यों भाई, उपस्थिति देखी? इन बड़े बड़े लोगों के सामने तुम अपने विषय का सफलता-पूर्वक प्रतिपादन कर भी सकोगे या नहीं; मुझे यही भय है। कहीं इन लोगों के सामने तुम्हारी पोल न खुल जाय।'

मि० पाठक ने लापरवाही से कहा—'हुश, इस सम्बन्ध में तुम्हें फिक्र करने की आवश्यकता नहीं है। सच जानो भाई, इन उपस्थित सज्जनों में से एक को भी चित्रकला का जरा भी ज्ञान नहीं है।'

'तो फिर बिना चित्रकला के ज्ञान के ही ये लोग यहाँ उपस्थित हुए हैं?'

'मेरे भाई, लोग जिन विषयों के व्याख्यान सुनने आते हैं, वह इसीलिये नहीं कि उस कला के सच्चे पारखी या सच्चे प्रेमी होते हैं। वे तो केवल इसलिये आते हैं कि व्याख्यान सुनने जाना आजकल की फैशन है। विशेष रूप से इन कलाओं के व्याख्यान। वे इसलिये भी आते हैं कि दुनिया समझे कि फलाँ गाँव के निवासी बड़े कला-प्रेमी हैं। उनमें कला का गौरव करने की सामर्थ्य है। वे कला के उपासक हैं समझे। इसलिए व्याख्यान में आकाश-कुसुम जैसी कितनी ही बातें कहते चले जाइये कोई कुछ भी न कहेगा। हाँ, व्याख्यान समाप्त होने

पर शंका-समाधान करते समय अवश्य कुछ सावधान रहने की आवश्यकता होती है। क्योंकि शंका-समाधान के समय वे ही लोग आते हैं जो अपने को श्रेष्ठ, कुछ अधिक कलाभिज्ञ समझते हैं।'

और मि० पाठक ने इसी निर्भयता से डेढ़ घंटे तक भाषण दिया। उसके इस भाषण के उस अंश का जिसमें कुछ अर्थ हो सकता है, उसका सारांश यह है—'चित्र-कला के सौंदर्य की ओर देखने की दृष्टि सर्व-साधारण सौंदर्य-दृष्टि से भिन्न होती है। सर्वसाधारण को प्रकृति के स्वाभाविक दृश्य प्रिय लगते हैं, किन्तु चित्रकार की दृष्टि इससे भिन्न—बिलकुल भिन्न होती है। जान कौन्स्टेबल कहते हैं, 'सृष्टि में कुरूपता का स्थान नहीं है। कुरूप कुछ है ही नहीं। एक बुढ़िया का चित्र खींचते समय भी चित्रकार को सौंदर्य-विशेष की अनुभूति होती है। और उस सौंदर्य विशेष को अपने चित्र में व्यक्त करते समय चित्रकार एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। तब जो कला का सृजन होगा उसमें साधारण मनुष्य को कुछ विशेषता प्रतीत नहीं होती—न वह उसे पसन्द ही करता है। क्युबिज़्म नामक चित्रकला का एक पंथ है। इस पंथ की पद्धति के अनुसार जो चित्र बनाये जाते हैं वे भूमितिशास्त्र के अनुसार अलग-अलग आकृतियों में बनाये जाते हैं। प्रथम सभी पदार्थों के आकार इसी भूमितीय आकृतियों जैसे थे। बाद में हवा, पानी आदि के परिणाम उन पर होकर आज के आकार उन पदार्थों को प्राप्त हुए हैं। इस पंथ के जनक पिकेसो का नाम सर्वश्रुत ही है, उसी ने यह भूमितीय चित्रकला पद्धति प्रथम प्रचलित की। अवश्य ही ये चित्र दीखने में असुन्दर होते हैं। उसी प्रकार रेम्ब्रांट का इम्प्रेशनिज़्म, इटली का फ्यूचरिज़्म है। अभी कुछ दिन पूर्व अमेरिका में जीरोइज़्म नामक चित्रकला की एक नयी पद्धति निर्माण हुई है। उस पद्धति से बनाये गये चित्र भी असुन्दर दीखते हैं, किन्तु कला के जो सच्चे पारखी हैं वे उस चित्र में स्वाभाविक सौंदर्य की अनुभूति का

अनुभव कर एक अभूतपूर्व आनन्द का रसास्वादन करते हैं। अवश्य ही ऐसे कला-पारखियों की संख्या बहुत ही कम होती है। शिकारपुर का सौभाग्य है कि यहाँ रायबहादुर धवलराय जैसे कला-पारखी निवास करते हैं। ऐसे कला प्रेमी सज्जन ही कला का गौरव करने की क्षमता रखते हैं। और ऐसे सज्जन के कला-गौरव पर ही कला जीवित रहती है। कलाकार के हृदय में ऐसे सज्जनों के प्रति सच्चा प्रेम, सच्चा गौरव निर्माण होकर उसको यह हार्दिक संतोष होता है कि उसकी कला की वास्तविक सुन्दरता को एक ने तो समझा और गौरव किया। शेष लोगों में न तो कला की वास्तविक सुन्दरता देखने की शक्ति होती है और न कलाकार को ऐसे लोगों के मुख से अपनी कला की प्रशंसा सुनने की परवाह होती है।'

शंका समाधान के लिए भाषण के अन्त में दो चार प्रतिष्ठित नागरिक चित्र-कला के प्रति अपनी आस्था मि० पाठक के सम्मुख प्रकट करने के लिये उसके आस-पास एकत्रित हो गये; किन्तु मि० पाठक ने उनकी ओर देखा तक नहीं। अपनी दाहिनी ओर बैठे रायबहादुर धवल-राय जी की ओर झुककर उन्हें नमस्कार करते हुए नम्रतापूर्वक कहा—'आप ही रायबहादुर धवलराय जी हैं?'

'आँ? हाँ! हँ हँ हँ हँ,' सरदार धवलरायजी ने मि० पाठक को नमस्कार करते हुए कहा और एक विचित्र हँसी का लम्बा हेल उनकी लम्बी, घनी सफेद मूँछों से निकल पड़ा।

इसी समय एक दूसरे सज्जन अपनी जगह से उठकर पाठक के पास आये और पाठक को नमस्कार कर बोले—'नमस्कार महाशय, आप मुझे जानते ही होंगे। मैं रायबहादुर नवलराय हूँ।'

मि० पाठक ने उनकी बात सुनी-असुनी कर दी और रायबहादुर धवलराय की ओर झुककर कहा—'मैं आठ दस दिन पहले बम्बई गया था। संयोगवश सुप्रसिद्ध चित्रकार कनु देसाई वहीं थे। मैं उनसे मिला

वे आपके चित्रकला प्रेम की खूब तारीफ कर रहे थे और यहाँ तक वह कह गये कि उस इलाके में आप ही एक सच्चे कला-प्रेमी हैं।'

'ऐसा, हैं, हैं, हैं मैं किस लायक हूँ।' सफेद घनी मूँछों पर बायाँ हाथ फेरते हुए रायबहादुर धवलरायजी ने एक तीव्र कटाक्ष रायबहादुर नवलरायजी की ओर फेंक कर कहा। कनु देसाई जैसे सुप्रसिद्ध चित्रकार ने मेरी तारीफ की यह अभिमान उनके भव्य चेहरे पर उदित हो उठा था।

'मेरे परिचित एक दीवान बहादुर बम्बई में रहते हैं। क्या वे आपको नहीं मिले?' रायबहादुर नवलराय जी ने मि० पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचने की गरज से कहा।

किन्तु मि० पाठक ने उनको पूरी तरह तरह देकर रायबहादुर धवलरायजी से कहा—'कनु देसाई जी ने यह भी कहा कि आपके पास चित्रकला का उत्कृष्ट संग्रह है। अनेक कलाकारों की सुललित कला आपके चित्रकला भवन की शोभा बढ़ा रही है। क्या आपका चित्र-कला भवन देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा?'

'हाँ, हाँ! पधारिये अवश्य पधारिये।' रायबहादुर धवलराय जी का मुख अब प्रसन्नता से दमक रहा था।

'अजी चित्रकार महाशय! हमारे घर पर भी चित्र हैं समझे।' रायबहादुर नवलरायजी ने बीच में ही कहा—'हमारे घर रवि वर्मा के चित्र हैं। हमारे स्थानीय पेन्टर जगन्नाथ बाबू ने दीवाल पर वे चित्र खींचे हैं कि बस देखते ही रहिये। हाथी और शेर की लड़ाई का चित्र, दूध ले जाती हुई ग्वालिनों का चित्र, कृष्ण कन्हैया के चीरहरण का चित्र इत्यादि। अजी कहाँ तक वर्णन किया जाय अनेकों चित्र हैं। आप उन्हें देखने अवश्य ही पधारिये।'

मि० पाठक उनके निमंत्रण का कुछ विशेष आदर न कर रायबहादुर धवलराय से बोले—'आपकी मुलाकात से हमें बड़ा आनन्द

प्राप्त हुआ। कलाकारों का परम सौभाग्य है कि आप जैसे गुण-ग्राहक इस अवनीतल पर विद्यमान हैं। सच जानिए, मैं तो बहुत प्रसन्न हुआ क्योंकि आजकल सच्चे कला-रसिक मिलना कठिन हो गया है।'

'चित्रकारजी!' रायबहादुर नवलरायजी फिर बीच में ही बोल उठे—'हमें भी चित्रकला से प्रेम है समझे, हमे भी चित्रकला की परख है।'

अब मि० पाठक चिढ़ गए और नवलरायजी की ओर मुड़कर सरोष बोले—'आप चित्रकला से प्रेम करते हैं यह बात मुझे नहीं जँचती। आपने अभी जो अपने घर के चित्रों का वर्णन किया है वे निम्न श्रेणी के चित्र हैं और आपकी अत्यंत साधारण रुचि को प्रकट करते हैं। श्रीमान रायबहादुर धवलरायजी सच्चे कला-पारखी हैं—चित्र कला का मर्म वे भली भाँति जानते हैं। क्या आप उन जैसे कला-मर्मज्ञ हैं?'

'उनसे अधिक!' नवलरायजी ने जोर देकर कहा।

'यदि यह बात है तो अभी निर्णय हुआ जाता है।' मि० पाठक आवेग और आवेश से उठे और अपना चित्र ले आये तथा उसके ऊपर का कागज निकालते हुए कहने लगे—'अभी मैं अमेरिका से आ रहा हूँ। वहाँ के जीरोइज़्म के सिद्धांत पर मैंने यह कलापूर्ण चित्र बनाया है। देखें इस चित्र का आन्तरिक मर्म आपकी समझ में आता है या नहीं। कहिये चित्रकार ने किस मूल कल्पना के आधार पर इस चित्र को खींचा है, बताइये यह कल्पना, कहिये वह मर्म।'

रायबहादुर नवलरायजी आँखें फाड़-फाड़ उस चित्र की ओर देखने लगे। उस चित्र की कला उनकी समझ में नहीं आ सकी थी यह बात उनके हाव-भाव से स्पष्ट रूप में प्रतीत हो रही थी। किन्तु रायबहादुर धवलरायजी उस चित्र को देखते ही आनन्द में गर्क हो गये। वे निर्निमेष उस चित्र की ओर देखते रहे, देखते रहे और एकदम बोले—अहा हा! कला, कला के लिये! इसका नाम कला। कला का

यह कितना उत्कृष्ट सौंदर्य है ! सच्ची कला यही है। ओह कितना सुन्दर है यह चित्र !' धवलरायजी का रसिक हृदय उन गोलाकारों में सच्ची कला का दर्शन कर प्रसन्नता से सराबोर हो उठा।

'देखिये रायबहादुर नवलरायजी ! सच्चा रसिक, सच्चा कला-पारखी, शुद्ध और सात्विक कला को देखते ही इस प्रकार आनन्द में बेहोश हो जाता है। क्या आप इस चित्र की कला के वास्तविक मर्म का परिचय उपस्थित लोगों को करा सकते हैं ?'

'कला का वास्तविक मर्म !' रायबहादुर नवलरायजी सिर खुजलाते हुए बोले—'मुझे तो लगता है हरे थूवर के पेड़ पर नीली साड़ी सूख रही है।'

'वाह, वाह, यह चित्रकला का गौरव है अथवा उसका उपहास !' मि० पाठक के स्वर में रोष की एक मात्रा और बढ़ गई थी। 'आप फरमाते हैं थूवर के पेड़ पर नीली साड़ी सूख रही है। यह है आपकी कला की परख ! रायबहादुर नवलरायजी, कला इतनी सस्ती और साधारण वस्तु नहीं कि चाहे जो उसका मर्म समझने में समर्थ हो सके। यह मर्म तो रायबहादुर धवलरायजी जैसे सच्चे कला-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं और समझा भी सकते हैं। वे इस चित्र को देखते ही समझ गये हैं कि अमेरिका के जीरोइज़्म तत्त्व के आधार पर खींचा गया यह चित्र हमें बोध कराता है कि यह अखिल विश्व शून्य ही निर्माण हुआ है और शून्य में ही विलीन हो जाता है। यह नदी, यह वृक्ष, यह पहाड़, यह मनुष्य—सभी गोलाकार में चित्रित किये गये हैं, इसका रहस्य भी यही है। क्यों धवलरायजी यही बात है न ?'

'नितान्त सत्य है पूर्णेन्दु महाशय आपका कहना ! यही रहस्य, यही मर्म, यही कला है इस चित्र में।' अभिमान-पूर्वक नवलरायजी की ओर देख धवलरायजी ने कहा।

मि० पाठक ने नवलरायजी की ओर देख कर कहा—'अच्छा

रायबहादुर महोदय, आपकी सेवा में मेरा यह विनम्र निवेदन है कि यदि यह चित्र मैं बेचूँ तो आप कितने में खरीदेंगे ?'

'एँ, चित्र मोल लेना है ! लेकिन चित्र ज़रा बड़ा है, फिर भी ले लेंगे एक रुपया आठ आने में।'

'अहा हा हा !' मि० पाठक ठठाकर हँस पड़े और बोले—'दो-चार आने में बाजारू चित्र मोल लेने वाले आप, इस चित्र का मूल्य नहीं आँक सकते। कभी स्वयम् चित्रकार के हाथ के बने आईल पेंटिंग किंवा वाटर कलर पेंटिंग मोल लिये हैं आपने ? हमारे रायबहादुर धवलरायजी से पूछिये, वे बतायेंगे इसकी कीमत। जिनके चित्र-कला-भवन में कनु देसाई के स्वयम् हाथ के बने चित्र लगे हैं और उन चित्रों को रायबहादुर ने तीन-तीन, चार-चार हजार रुपयों में खरीदा है ! मेरे चित्र का उचित मूल्य भी वे ही आँक सकेंगे। रायबहादुर धवलरायजी से मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस चित्र की कीमत क्या आँकते हैं, कृपया बतावें। वे इसका क्या मूल्य दे सकेंगे ?'

'मैं इस चित्र को पाँच सौ रुपये में खरीद सकता हूँ !' रायबहादुर धवलरायजी ने अकड़ कर कहा।

'मैं सात सौ रुपये देता हूँ।' रायबहादुर नवलरायजी ने प्रतियोगिता के आवेश में कहा।

'हूँ,' मि० पाठक ने तिरस्कार-पूर्वक कहा—'अब आप इस चित्र के एक लाख रुपये भी दें तो मैं इसे आपको नहीं दूँगा। जिसे कला का ज्ञान नहीं, जो कला का मर्म नहीं जानता, उसे कलापूर्ण चित्र देना उस कला का अपमान करना है। कलाकारों को पैसे की कीमत नहीं होती। रायबहादुर साहब, कला-प्रेमी रसिक जनों की ओर से जब उनकी कला का गौरव होता है तब उन्हें हार्दिक संतोष होता है समझे। कलाकार उसी एक क्षण की प्रतीक्षा करते रहते हैं। यही कारण है कि मैं यह चित्र आपको सात सौ रुपयों में भी नहीं दे रहा हूँ, परन्तु श्री रायबहादुर

धवलरायजी को पाँच सौ रुपयों में ही दे रहा हूँ।'

इतना कहकर मि० पाठक ने वह चित्र रायबहादुर धवलरायजी के हाथ में थमा दिया। श्री धवलरायजी को चित्र हाथ में लेने के सिवा अब दूसरा मार्ग ही नहीं था। मि० पाठक ने की हुई उनकी स्तुति, कनु देसाई जैसे सुप्रसिद्ध कलाकार की ओर से उनकी रसिकता की की गई तारीफ, और स्वयम् उस चित्र की कीमत ५००) आँकना आदि इन सब बातों ने चित्र उसको मोल लेने के लिये उन्हें बाध्य कर दिया। पूर्णेन्दु जैसे सुप्रसिद्ध कलाकार ने रायबहादुर नवलराय का तिरस्कार कर, वे सात सौ रुपये दे रहे थे फिर भी पाँच सौ रुपये में मुझे वह चित्र प्रदान कर मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई, यह बात क्या साधारण है? उन्होंने उस चित्र को बड़े विनय-पूर्वक लेकर अपने पीछे खड़े खजाञ्चो बाबू के हाथ में देकर कहा—खजाञ्चो साहब, कल सवेरे पूर्णेन्दु महाशय जिस समय चित्र-कला-भवन देखने आयँ उस समय उन्हें पाँच सौ रुपये की थैली भेंट कीजिये समझे!'

दूसरे दिन रायबहादुर धवलरायजी के यहाँ सन्मान-पूर्वक यथेष्ट जलपान कर तथा पाँच सौ रुपये लेकर हम अपने गाँव चले आये। मार्ग में मि० पाठक ने मुझसे कहा—'कहो भाई, मैं जीता न?'

'हा भाई, जीते अवश्य।' मैंने कहा—'मुझे तो यह आश्चर्य है कि ये लोग फँस कैसे जाते हैं।'

'अरे भाई, जो मनुष्य जिस विषय को नहीं जानता उसमें पारंगत होने का जब अभिनय करने लगता है तब ऐसा ही फँसता है। इस बुद्धिहीन रायबहादुर धवलराय को चित्रकला का जरा भी ज्ञान नहीं है, किन्तु कला-रसिक और कला-प्रेमी होने का तथा कलाकारों का सन्मान कर उन्हें आश्रय देने वाले हम भी हैं यह बात लोगों की नजरों में जताने का शौक है। और उन्हें सुप्रसिद्ध कलाकारों के चित्र मोल लेने का एक रोग-सा है, यह बात जब मैं एक बार पहले शिकारपुर आया था

तब मुझे मालूम हो गई थी और इसी बात का इस बार उपयोग कर उससे लाभ उठाने का मैंने विचार किया। मुझे यह भी मालूम हो गया था कि इन दोनों—रायबहादुर धवलराय तथा रायबहादुर नवलराय—में प्रत्येक बात में प्रतियोगिता चलती रहती है और एक दूसरे की नाक नीची करने का प्रयत्न करते रहते हैं। आज अनायास इसका फायदा भी मुझे मिल गया।'

'यह जो कुछ भी हो, किन्तु मि० पाठक तुम्हारा वह चित्र, चित्र इस नाम को भी कलंकित करता है। कला के नाम पर तो उसमें कुछ भी नहीं है। छिः छिः अत्यन्त असुन्दर था वह तुम्हारा चित्र मि० पाठक।'

'अरे भाई, यही कारण है कि मुझे डेढ़ घंटे तक कंठशोष करना पड़ा। कॉन्स्टेबल, रेम्ब्रांट पिकेसो आदि बड़े बड़े लोगों का आधार लेकर प्रतिपादन करना पड़ा कि "जो असुन्दर है, कुरूप है, वही कला है।' मेरा चित्र असुन्दर था मुझे स्वीकार है फिर भी उसमें दूसरे चित्रों से कुछ नवीनता थी। बस यही काफी था लोगों के लिये। कुछ नवीनता और उस नवीनता के पीछे पाश्चात्य विद्वानों का आधार, फिर उस कला के सर्वमान्य होने में जरा भी सन्देह नहीं रहता। बड़े-बड़े इस भुलावे में फँस जाते हैं फिर बेचारे धवलरायजी जैसे साधारण मनुष्य फँस जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। इसलिये 'जीरोइज़्म' नामक कला का एक नया रूप लोगों के सम्मुख रखना पड़ा। नाम में भी विशेषता थी। रायबहादुर धवलरायजी के मस्तिष्क में बुद्धि के नाम पर शून्य था...।'

'और तुम्हारे चित्र में कला के नाम पर था शून्य...'।

'बिलकुल ठीक, शून्य में शून्य मिल जाने से ही तो भाई जीरोइज़्म का जन्म हो सका और रायबहादुर धवलरायजी ने पाँच सौ रुपये देकर उसका जन्मोत्सव मनाया।'

'किन्तु मि० पाठक, लोगों को इस प्रकार शब्द-जाल में फँसाकर पैसा लूटना उचित नहीं है।'

'छिः छिः इसे लोगों को फँसाकर पैसा लूटना नहीं कहते हैं—यह 'बिज़नेस' है। और भाई, मुझे तो तुम्हें केवल यह दिखाना था कि मैं आठ दिन में सैकड़ों रुपये कमा सकता हूँ या नहीं। इस तरह का बिज़नेस करने का मेरा ध्येय नहीं है। ऐसे बिज़नेस से मुझे पैसा नहीं कमाना है। इसी लिए रायबहादुर धवलरायजी से प्राप्त पाँच सौ रुपये मैं उन्हें वापस लौटा रहा हूँ।'

भूत की कहानी

भूत-पिशाच की किंवदन्तियाँ मनोरंजक होती हैं। उन्हें सुनते-सुनते हम अपना अस्तित्व ही भूल जाते हैं। समय कब निकल गया, मालूम नहीं होता। भूत की कहानियाँ जब कही जाती हैं तब वे जल्दी समाप्त भी नहीं होतीं। एक के पीछे एक द्रौपदी के चीर की तरह वे बढ़ती ही जाती हैं। यह अनुभव सबको है। सच बात तो यह है कि मानव-हृदय में 'अद्‌भुत' की लालसा स्वाभाविक रूप से निवास करती है। यह अखिल विश्व स्वयम् अद्‌भुत है। ऐसे विश्व के संसर्ग में रहनेवाला मानव यदि अद्‌भुत से प्रेम करे तो आश्चर्य नहीं। इसी लिये सहवास को प्रेम का जनक कहा है।

उस दिन भूत की कहानियाँ 'न भूतो न भविष्यति' कही गईं और सभी बेसुध हो उन्हें सुन रहे थे। रात को ग्यारह बजे का पहला शो देख आने के बाद हम सब लोग गद्दों में उलझ गये और सरकारी घंटे ने जब सुबह के चार बजाये तब हम होश में आये।

हमारी 'चांडाल-चौकड़ी' चौकड़ी तो हम केवल अनुप्रास जोड़ने के लिये कह रहे हैं, वास्तव में हमारी पंचकड़ी उस 'कस्तूरी' गाँव में अपने परम मित्र श्री अमृत नागर के विवाह के निमित्त आई थी। कस्तूरी बरार के एक जिले का स्थान था। उसी हिसाब से उसकी जन-संख्या भी थी। अजंता पर्वत के एक ऊँचे पठार पर वह बीस-तीस हजार जनता सुख-पूर्वक रहती थी। कस्तूरी कस्बे में आधुनिक सुख-साज के सभी साधन उपलब्ध थे। बिजली की बत्तियाँ, पानी के नल, सिनेमा, वाचनालय आदि सब अमृत के उस गाँव में विद्यमान थे। कस्बे की सदर सड़क डामर की थी। सौभाग्य से जिस दिन हम गये उसी दिन एक 'कोल्ड ड्रिङ्क हाउस' भी खुल गया था। अमृत के विवाह

के वे दिन मार्च महीने के थे। गर्मी के उन प्रारंभिक दिनों में ही 'वैशाख स्नान' होना प्रारम्भ हो गया था। यही कारण था कि शीतल पेयों की सभी को आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी और वह अभाव 'कोल्ड ड्रिंक हाउस' ने पूर्ण कर ही दिया था। अजंता के ऊँचे विस्तृत पठार पर बसने वाले कस्तूरी गाँव का गर्मी के प्रारम्भिक दिनों में जब यह हाल था तब नीचे मैदान में बसनेवाले गाँवों का गर्मी के मुख्य दिनों में क्या हाल होता होगा कल्पना से जाना जा सकता है। दोपहर को बारह बजे भोजन के समय यदि पापड़ धूप में रख दिये जायें तो अपने आप सहज ही भुन जायँ इतनी कड़क और तेज धूप उन दिनों वहाँ पड़ती है। सवेरे आठ बजे से शाम के छः बजे तक आग की लपटें चलती रहती हैं। छः बजने के बाद घर से बाहर निकला जा सकता है। गर्मी के दिनों में बरार के किसी भी गाँव में आप चले जाइये, सबेरे पानी की भरी गाड़ियाँ आती जाती दिखाई देंगी। बड़े बड़े पानी के कंडाल बैल-गाड़ियों में ले जाकर किसी दूर के कुएँ से भरकर लाये जाते हैं और वह पानी दिन रात सँभालकर उपयोग में लाया जाता है। बरार की गर्मी की रात भी सुखद नहीं होती। रात भर गरम हवा चलती रहती है और नींद नहीं आती। रात जागते, बिस्तर पर इधर से उधर करवटें लेते बीत जाती है। रात भर नींद के लिये उलटते रहिये। अरुणोदय के समय हवा में कुछ ठंडक आ गई तो सौभाग्य ही समझिये। तब कहीं थोड़ी बहुत नींद से आँख झपी न झपी कि सवेरा हो जाता है। जाने भी दीजिये, बरार की गर्मी क्या चीज है यह वर्णन करने से नहीं जानी जा सकती, वह तो अनुभव से ही जानी जा सकती है।

किन्तु फिर भी यदि बरार में रहना ही हो तो कस्तूरी में ही रहा जाय यह मेरा आग्रह है। मेरी अपनी महत्वाकांक्षा यही है। यदि मैं प्रतिवर्ष पास होता गया तो दो साल बाद पूर्ण वकील हो जाऊँगा तब कस्तूरी में ही रहकर वकालत करने का मेरा विचार है। 'कस्तूरी

गरम होती है, किन्तु मेरी यह कस्तूरी ठंडी है' अमृत का यह कहना सत्य है और मुझे बहुत कुछ जँचता है।

अमृत के विवाह के लिये हम पाँच मित्र गये थे। अमृत हमारा दिलीदोस्त था। नागपुर के कालेज में भरती होने के बाद हमारी और अमृत की जान-पहिचान हुई यह सत्य है फिर भी उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल, प्रेम से सराबोर होने के कारण हम एक-दूसरे से हिल-मिल गये। हमारे गुट्ट का वही अगुआ था। इसलिए हम लोगों का उसके विवाह में सम्मिलित होना नितान्त आवश्यक था।

अमृत का विवाह अमरावती के प्रफुल्लचन्द्र आचार्य की कन्या सुनीता देवी से निश्चित हुआ था। विवाह होना तो चाहिये था अमरावती में ही किन्तु वहाँ पानी का अभाव अभी से ही उत्पन्न हो गया था। दूसरे हिन्दू मुसलमानों की अभी हाल में ही भयानक दशा हो गयी थी। सम्भव है फिर ज्वालाएँ धधक उठें और विवाह के रंग में भंग हो जाय। उभय पक्षों ने सर्वसम्मति से कस्तूरी में ही विवाह का कार्य-क्रम पूर्ण करना निश्चित किया था।

हमारे पाँचों पाण्डवों के रहने की व्यवस्था कन्हैयालाल मुन्शी के एक भव्य भवन में की गई थी। अमृत का घर विवाह के समारम्भ के लिये छोटा था। मेहमानों की चहल-पहल, आना जाना सभी दृष्टि से वह घर छोटा था। कन्हैयालाल जी के घर के जिस हिस्से में हमारे रहने की व्यवस्था की गई थी वह एक तरफ होकर भी शानदार था। हमें बहुत पसन्द आया घर का वह भाग। संपूर्ण आजादी थी वहाँ—धूम्रपान, चायपान, जलपान (तीनोंपान) करके वास्तविक 'पान' खाइये। हाँ, जलपान के समय खाइये भी पीजिये भी। चाहे जितनी गप्पें लड़ाइये। सो जाइये। ताश खेलिये। अमृत की ठट्ठा करते समय अपनी शरारतों का उचित अनुचित उपयोग कीजिये। समय-असमय का ध्यान रखने की भी आवश्यकता नहीं थी। ऐसी संपूर्ण स्वराज्य स्वतन्त्रता

थी उस भवन में हमें। इलाहाबाद का 'आनन्द भवन' का स्वराज्य भवन हुआ था किन्तु हमारा यह भवन आनन्द भवन भी था और स्वराज्य भवन भी।

स्वयम् अमृत ने और उसके पिता ने भी हमें विवाह में किसी प्रकार का कोई काम करने की मनाही कर दी थी। जिस दिन हम कस्तूरी पहुँचे थे उसके दूसरे ही दिन प्रातःकाल अमृत के पिता श्री विष्णुदत्त हमारे पास आये। हम सब एकदम गम्भीर होकर विनय-पूर्वक खड़े हो गये। विष्णुदत्तजी ने कहा, 'देखिये, आप लोगों को किसी प्रकार का कोई काम करने की आवश्यकता नहीं है। काम करने के लिये बुलाया ही नहीं तुम लोगों को। नीचे से भोजन के लिये बुलावा आने पर नीचे आना और भोजनोत्तर फिर यहाँ आ जाना, आराम करना बस ये ही दो काम आप लोगों को करना है। और देखिये, विवाह समाप्त होते ही भागने नहीं दूँगा मैं आप लोगों को, समझे। कम से कम और पंद्रह दिन रहना होगा यहाँ सबको। अभी से जिस किसी को जहाँ कहीं चिट्ठी-पत्री लिखना हो लिख दें बाद में मैं किसी का कोई उजर नहीं सुनूँगा।'

उनके इस भाषण से उनके प्रेमी हृदय की कल्पना हो आई हमें। प्रथम परिचय में ही वे कितने खुले हृदय से मिले हमसे। उनके प्रति हमारे हृदय की भावनाएँ भक्ति से सराबोर हो गईं। हम बरार के लोगों की यही विशेषता है। सबसे प्रेम से मिलेंगे तथा खुले दिल से स्वागत करेंगे। मेरे काका हमेशा कहा करते थे कि 'प्रत्येक बरारी एक एक सोने की ईंट है।' बरारी लोगों का मानसशास्त्र निराला ही है। स्वयम् एक ही पगड़ी पहिनकर जीवन बिता देंगे, कोट फट गया तो पैबन्द पर पैबन्द लगाकर उसे ही बरतते रहेंगे किन्तु मेहमानगिरी में हजारों रुपये खर्च कर देंगे। बरारी अव्यवस्थित होते हैं, उन पर यह आरोप लगाया जाता है, किन्तु जो समझदार हैं वे इस अव्यवस्था में भी मन की

उच्चता का ही आभास पायेंगे।

हाँ, उसी दिन दोपहर को कंधे पर बिस्तर रखे अमृत तथा उसके पीछे-पीछे एक वृद्ध महाशय हमारे कमरे में आये। वृद्ध महाशय की अवस्था पचास के लगभग होगी।

'ये विनोदशङ्करजी, पिताजी ने विशेषरूप से इनको यहाँ भेजा है। हाँ, चाचाजी आपके लिये यह कमरा उपयुक्त है।' हमारे बड़े कमरे से लगा एक छोटा कमरा था अमृत ने उसका द्वार खोलते हुए कहा।

अपनी गर्दन को दो-तीन बार हिलाकर विनोदशंकरजी बोले—'वाह उत्तम, अति उत्तम, बहुत उत्तम! हाँ, अमृत तुमने इन लोगों का हमसे परिचय नहीं कराया?' वृद्ध महाशय ने हमारी ओर संकेत किया।

'ये सबके सब मेरे मित्र हैं। हम सब लोग नागपुर कॉलेज के सहपाठी हैं।' अमृत ने एक एक कर सबका परिचय कराया।

वृद्ध महाशय थोड़ी देर बाद किसी कार्यवश नीचे चले गये।

मैंने अमृत से कहा—'अमृत, यह मुसीबत तुम यहाँ क्यों ले आये। हमारी स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित हो गई न? अरे भाई, चाहे जिस विषय पर होने वाली हमारी चर्चाएँ, हमारा धूम्रपान, आदि सभी बातें अब बन्द हो जायेंगी। अब हम विनय-कुमार का गाना भी तो आजादी से नहीं सुन सकेंगे। ये भजनीक महाशय कहाँ से ले आये भैया?'

अमृत ने हँस कर कहा—'अरे भाई, यह बूढ़े महाशय अपनी एक विशेषता रखते हैं। इनके सहवास का आनन्द लूटने के बाद संध्या समय तुम मेरा आभार ही मानोगे समझे। अवस्था से ये वृद्ध हैं किन्तु हृदय इनका तरुण है। तरुण ही नहीं इनकी वृत्ति बालकों जैसी खिलाड़ी है। युवकों में युवक, बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध बन जाने वाले अजीब प्राणी हैं ये विनोदशंकरजी। तुम्हें गाना गाकर सुनायेंगे—चाहे सीनेमा के सुनिये चाहे रागदारी, चाहे गप्पें लड़ाइये। नक्काल

भी एक नम्बर हैं। देखिये तो सही उनकी एक एक करामात, आप हँसते हँसते थक जायेंगे। विनोदशंकरजी वास्तव में विनोदी हैं। एक अजीब जीव हैं।'

'किन्तु ये आये कहाँ से हैं?'

'मेरे पिताजी के बाल-मित्र हैं। श्रीमान हैं, करीब करीब लखपती ही समझिये। यहाँ से पच्चीस-तीस मील पर आशा ग्राम में इनकी हजारों एकड़ खेती है। अकेले जीव हैं। पत्नी नहीं, संतान भी नहीं।'

एक घंटे के अनन्तर विनोदशंकरजी फिर वहाँ पधारे। एक नौकर उनके पीछे-पीछे एक चाय की केटली तथा चार-पाँच कप लेकर आ रहा था। हम सब अभी-अभी चाय पी चुके थे फिर यह चाय क्यों लाई जा रही है। हम सब आश्चर्य से विनोदशंकरजी की ओर देखने लगे। वे हमारी ओर देख मुस्कराकर बोले—'मुझे मालूम है आप सब चाय पी चुके हैं। आप ही नहीं, लेकिन नीचे भी सब लोग चाय पी चुके हैं। मेरा अपना नियम है कि मैं बिना साथी के चाय नहीं पीता। नीचे कोई चाय का सच्चा अनुरागी, अनन्य भक्त नहीं मिला। तब सोचा वहीं चला जाये जहाँ चाय के अनन्य भक्त, सच्चे अनुरागी निवास करते हैं। हाँ, आइये चाय ठंडी हो रही है।' अब इनकार करना हम लोगों के वस की बात नहीं थी। हम सब ने उनके साथ चाय पीकर प्रमाणित कर दिया कि अखिल विश्व में नहीं तो कम से कम कस्तूरी ग्राम में अथवा कम से कम उस कमरे में ही हम चाय के सच्चे अनुरागी, अनन्य भक्त हैं।

अमृत का कहना सत्य प्रमाणित हुआ। विनोदशंकरजी आधे मिनट में ही हम सब के प्रिय बन गये। उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता था।

सिनेमा का प्रथम शो देखने जिस दिन हम गये थे उस दिन विनोद-शंकरजी भी साथ में थे। सिनेमा से वापिस आने पर भूत-पिशाचों के

अस्तित्व के सम्बंध में बात चल पड़ी। आरम्भ विनोदशंकरजी ने ही किया और फिर वह बात-चीत इतनी अधिक मनोरंजक हो गई कि हम सब उसके रंग में बेसुध हो गये। अमृत के गाँव का नाम कस्तूरी क्यों और किस प्रकार रखा गया। इसका मनोरंजक इतिहास भी उन्होंने अत्यंत आकर्षक ढंग से कहा। वे बोले—'बरार का विगत वैभव अब नामशेष हो गया है। बरार का वैभव धूल में मिल गया है भाई, जिस प्रकार जमीन में गड़े धन को चोर उखाड़ कर ले जायें और केवल गड्ढा ही शेष रह जाये, बरार की अवस्था भी ऐसी ही है। इसी कस्तूरी की बात ले लीजिए। इस ग्राम का नाम 'कस्तूरी' क्यों पड़ा यह आप नहीं जानते हैं। मोटर से आते समय गाँव के बाहर एक पुराना भवन आपने देखा ही है। वह 'कस्तूरे' वंश का है।'

अब मुझे याद आया कि गाँव के बाहर एक पुराना किन्तु प्रचंड भवन था जरूर। विनोदशंकरजी ने फिर कहना आरम्भ किया—'इस समय वह जगह-जगह टूट-फूट गया है। उसमें कोई रहता भी नहीं है। 'कस्तूरे' के वंशज हैं तो अवश्य किन्तु कहाँ हैं इसका पता नहीं है। कस्तूरे महाशय के वैभव की याद आते ही हृदय पीड़ा से कराह उठता है। वास्तव में 'कस्तूरे' यह उनका असली नाम नहीं था। उनका नाम था 'माने' और इस गाँव का नाम भी 'मानेवाड़ी' था। किन्तु 'माने' वंश का नाम 'कस्तूरे' तथा 'मानेवाड़ी' का नाम कस्तूरी क्यों रखा गया इसकी कहानी यदि आप सुनेंगे तो बरार के वैभव की कल्पना आप सब को हो जायगी। कहानी बहुत पुरानी है, तीन पीढ़ी पहले की बात है। माने-वंश के एक विख्यात पुरुष श्रीपतराव माने एक दिन प्रातः-काल हवाखोरी कर रहे थे। रास्ते में माल से लदे दस-बारह ऊँट उन्हें मिले। सहज सरलता से श्रीपतराव ने उस काफिले के एक आदमी से पूछा—'क्यों भाई, ऊँट कहाँ के हैं और उनपर कौन सा माल लदा है?' श्रीपतराव की साधारण वेशभूषा देख उस काफिले के अगुआ को

उनके वैभव का अनुमान न होना स्वाभाविक ही था। श्रीपतराव की खिल्ली उड़ाने की गरज से अगुआ बोला—'कस्तूरी लदी है ऊँटों पर, क्या आप लेंगे?' इस पर उसके साथी खिलखिला कर हँस पड़े। श्रीपतराव कुछ न कह कर अपने घर की ओर मुड़ने लगे तभी उस काफिले का प्रत्येक आदमी हँसता और कहता जाता था—'लीजिए कस्तूरी लीजिए! कितनी तोलें, सेर दो सेर, मन दो मन!'

श्रीपतराव यह सुनकर आग बबूला हो गये। उन्होंने घूम कर कहा—'हाँ, हाँ, मुझे कस्तूरी मोल लेना है और सब की सब मोल लेना है। चलो गाँव में चलो।' इतना कह वे द्रुतवेग से घर की राह चलने लगे। पीछे-पीछे दस-बारह ऊँटों का काफिला भी चला आया। जिस पुराने भव्य भवन को आपने देखा है वह उस समय बन रहा था। श्रीपतराव गाँव में ही एक दूसरे घर में रहते थे। श्रीपतराव ने घर आते ही अपने खजाञ्ची से कहा, 'खजाञ्चीजी, भाव ठहराकर इन ऊँटों पर जितनी कस्तूरी हो सब ले लो और दाम चुकता कर इनसे रसीद ले लो।' अब आप कल्पना कीजिए दस बारह ऊँटों पर लदी कस्तूरी कितनी होगी और उसकी कीमत कितनी हुई होगी। खजाञ्चीजी मुँह बाये उनको देखते ही रह गये। श्रीपतराव ने तेजी से कहा, 'देखते क्या हो! मैंने कहा है उसे करो।' खजाञ्ची ने हाथ जोड़ कर कहा, 'मालिक, इतनी कस्तुरी की क्या आवश्यकता है?' श्रीपतराव क्रोध से लाल हो चिल्लाकर बोले, 'तुम्हें यह पूछने का कोई अधिकार नहीं है न आवश्यकता है। सब कस्तूरी ले लो और जो भवन शहर के बाहर बन रहा है उसकी मिट्टी में मिला दो।' आज भी उस भवन की मिट्टी में कस्तूरी की सुगंध आती है। यह था बरार का वैभव, समझे। इस घटना के अनन्तर श्रीपतराव के वंशज 'कस्तूरे' कहलाये तथा मानेवाड़ी का नाम 'कस्तूरी' पड़ गया।

'इस अपार वैभव पर श्रीपतराव की वासना मरणोत्तर रहना क्या सम्भव नहीं है? यही कारण है कि श्रीपतराव वासना रूप में अब भी

उस भवन में मौजूद हैं। वे रात में घूमते-फिरते भी हैं उस घर में। मैंने स्वयम् उनको पिशाच रूप में देखा है। तुम लोगों का पिशाच या भूत के अस्तित्व पर विश्वास है या नहीं?' विनोदशंकरजी ने हमारी ओर देखकर पूछा और हमारा भाव प्रायः जानना चाहा।

हम सब ने नकारात्मक गर्दन हिला दी। हम में से एक ने जो सान्इस का विद्यार्थी था, बोला—'भूत पिशाच सब झूठ हैं। मन की दुर्बलता के यह खेल हैं केवल। जो शरीर जल कर भस्म हो गया वह फिर दीख सकेगा यह असम्भव है, नितान्त असम्भव है।'

विनोदशंकरजी अब एकदम गम्भीर हो गये और शान्ति-पूर्वक बोले—'ये सब वासना के चमत्कार हैं। मैंने स्वयम् अपनी इन आँखों से श्रीपतराव को वासना रूप में घूमते फिरते देखा है। मैं आप से शर्त लगाता हूँ इस सम्बंध में। यदि आपको भूत या पिशाच देखने की जिज्ञासा हो तो कल सब मिलकर रात को कस्तूरे के उस मकान में जाइये। यदि श्रीपतराव के भूत को आपने देखा तो नागपुर के अंधों की पाठशाला के लिये आप पाँचों को मिलकर पचास रुपये प्रदान करने होंगे, और यदि श्रीपतराव का भूत आप लोगों ने नहीं देखा तो मैं उतने ही रुपये आप जिस संस्था को कहेंगे दूँगा। मंजूर है आप लोगों को यह बात? मैं भी आता आप लोगों के साथ, किन्तु कल मुझे राय बहादुर विनायकराव के यहाँ भोजन को जाना है। उनका निमन्त्रण मैं अस्वीकार नहीं कर सकूँगा क्योंकि वे मेरे बाल-मित्र हैं और मानेंगे भी नहीं। कल उनके यहाँ जनाब कलक्टर साहब का निमंत्रण है, अतएव भोजन का प्रोग्राम स्थगित भी नहीं हो सकता। मुझे दुःख है कि मैं आप लोगों के साथ न चल सकूँगा। बोलिए यह शर्त मंजूर है आपको?'

मैंने अपने मित्रों की ओर देखकर कहा—'क्यों भाई चलना है? मेरे विचार से कल रात के समय वहाँ जाने में कोई हर्ज नहीं है। जिज्ञासा की तृप्ति भी होगी और विनयकुमार जैसे साइन्स का हृदय रखने वाले

भावनाशून्य मनुष्य के हृदय का समाधान भी।'

सबने एक स्वर में कहा—'हाँ, हाँ हम सब तैयार हैं!'

तब विनोदशंकरजी ने कहा—'संभल कर जाइये। बिजली की बत्ती (टार्च) भी साथ में लेते जाइये। कुछ दिखायी दे तो घबराइयेगा नहीं। साहस रखें। एक विशेष बात ध्यान में रखिये, वह श्रीपतराव का भूत किसी को तकलीफ नहीं पहुँचाता—सताता नहीं है। रात भर दुमंजिले के एक जीने पर उतरता-चढ़ता रहता है बस। क्योंकि श्रीपतराव की मृत्यु उसी जीने पर से गिर कर हुई है। सच-झूठ की परख कर आइये एक बार। हाँ, यह बात किसी से भी कहिये नहीं। विष्णुदत्तजी सुनेंगे तो आपको जाने नहीं देंगे।'

दूसरे दिन रात को भूत देखने जाने का हमारा कार्यक्रम निश्चित हो गया। विनोदशंकरजी ने अपने जीवन के भूत-पिशाच के कितने ही अनुभव हमें सुनाये। हममें से किसी को भी उन पर विश्वास नहीं हो रहा था फिर भी विनोदशंकरजी के कहने का आकर्षक ढंग तथा मानव हृदय के 'अद्भुत' के प्रति प्रीति, दोनों ने मिल कर हमें इस प्रकार बेसुध बना दिया कि सरकारी घंटे ने जब सुबह के चार बजाये तब हम सुध में आये और अपने-अपने बिस्तर पर जा लेटे।

दूसरे दिन रात को जरा जल्दी भोजनादि से निपट कर हम नौ बजे पाँचों मित्र उस 'भूतघर' की ओर चल पड़े। करीब दो मील जाना था हमें। मानो हम वन-भोजन को ही जा रहे हों इस ठाट-बाट से जा रहे थे। दो-तीन टार्च साथ में रख लिये गये। दो-तीन थर्मास में गरमागरम चाय भर ली गई। एक लालटेन, एक छोटा पीढ़ा, सब के हाथ में बेंत, सिगरेट के तीन चार डिब्बे और ताश के दो जोड़। इतने साजो सामान के साथ हमारा अधिकार उस घर पर होने जा रहा था। सारी रात हमें बितानी थी वहाँ। किसी बड़े साहसी मोर्चे पर हम लोग जा रहे हों इसी विचार से प्रत्येक की मुद्रा गंभीर तथा शान्त

थी। विनोदशंकरजी संध्या के सात बजते ही रायबहादुर विनायकराव के यहाँ भोजन करने चले गये थे।

दसों दिशाएँ अंधकार से परिपूर्ण थीं। अंधकार को चीरते हम चले जा रहे थे और वह दौड़ता हुआ हमें निगलने चला आ रहा था। जब तक पक्की सड़क थी हमें विशेष तकलीफ नहीं हुई, किन्तु जब कच्चे रास्ते पर आये तब हमें अत्यंत कष्ट होने लगा। टार्च और लालटेन के धुँधले प्रकाश में ठोकरें खाते चले जा रहे थे। साँप के भय से लकड़ियाँ ठपकारते चल रहे थे। जैसे ही हमने उस घर के कम्पाउण्ड में प्रवेश किया हमारा हृदय एक बोझिल भावना से दब गया। मन की दुर्बलता थी वह, किन्तु उस दुर्बलता का विशेष परिणाम मन पर न होने देने की गरज से हम सब जोर जोर से बातें करते हुए चले जा रहे थे। बीच बीच में ज़रा ज़रा सी विनोदहीन बात पर हो हो हो कर हँस पड़ते थे। मन को दृढ़ बनाये रखने के लिए प्रयत्न थे हमारे। अब हम भवन के प्रवेश-द्वार के समीप आ गये थे। द्वार तो नाममात्र को ही था। द्वार का एक तख्ता तो मौजूद था पर दूसरा तख्ता वहाँ नहीं था। साइन्स के विद्यार्थी ने हँसकर कहा—'दूसरा द्वार श्रीपतराव की आँख बचाकर कोई जलाने के लिए ले गया जान पड़ता है।' हम सब ने उसके इस कथन की जोर से हँसकर पुष्टि की।

वह भवन तिमंजिला था। हाथ-हाथ भर गहरी धूल भरी थी हर जगह। कोने कोने में तथा छत से जमीन तक मकड़ियों ने जाल बना दिये थे। चमगादड़ की फौज हमारे सिर पर फड़फड़ाती हुई निकली जा रही थी। टार्च के प्रकाश में हम किसी प्रकार चल रहे थे। भवन में किसी प्रकार का कोई सामान नहीं था। लालटेन के धुँधले प्रकाश में हमारी छायाएँ हमें ही डराने का व्यर्थ प्रयत्न कर रही थीं। सब ओर भयानक उदास शान्ति थी। मानो हम एक निराले ही जगत में घूम रहे हों ऐसा लग रहा था।

प्रथम हमने भवन का कोना-कोना देख डाला और बाद में उस जगह पर आकर रुक गये जहाँ श्रीपतराव के भूत का होना विनोदशंकर जी ने कहा था। वह दुमंजिले से तिमंजिले पर जाने का जीना था और उस पर वह भूत ऊपर-नीचे उतरता-चढ़ता रहता था। हम उसी जीने के करीब जो कमरा था उसमें ही आसन जमाने वाले थे।

सच जानिए वह भवन बहुत ही भव्य तथा विशाल था। हमारे हृदय पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा। कहीं-कहीं वह गिर भी गया था। दुमंजिल के एक कमरे में खड़े रहने से आकाश की तारिकाओं की लीला स्पष्ट रूप से देख सकते थे क्योंकि तीसरी मंजिल की छत गिरकर कुएँ के मुँह के बराबर छेद हो गया था। कहीं-कहीं दीवाल में भी छेद होने से हम उस पार देख सकते थे। तलघर में हमने अनेक गड्ढे खुदे हुए देखे। विनोदशंकरजी ने समझाया था कि कस्तूरे के वैभव से प्रभावित होकर अनेकों ने धन के लोभ से उन खड्ढों को खोदा है। और यह काम वह दिन में ही करते थे क्योंकि रात में आने की किसी की हिम्मत नहीं थी।

उस भवन की उदास भयानकता, बाहर का घोर अंधकार, विनोद-शंकरजी ने अत्यन्त डरावने शब्दों में कही हुई भूत-पिशाचों की कहानियाँ आदि सब का परिणाम हमारे हृदय पर हो चुका था। भय की एक बारीक तह हमारे हृदय पर जम चुकी थी। यह सही है कि हमारे हृदय भूतों के अस्तित्व पर विश्वास नहीं कर रहे थे। फिर भी भवन का वह उदास और डरावना वातावरण हमें भुलावे में डाल रहा था। हम यह जानते हुए भी कि जो शरीर जलकर भस्म हो गया है उसे देख सकना नितान्त असम्भव है। जरा भी कहीं कुछ खटका होता कि हम चौकन्ने होकर इधर-उधर देखने लगते।

सब भवन देख चुकने के बाद जब हम उस जीने के करीब आये उस समय ग्यारह बज चुके थे। जीने के पास के कमरे में दरी

बिछाकर साइन्स के विद्यार्थी ने अपने कोट की जेब से ताश के दोनों जोड़ निकाल कर कहा—'चलो ब्रिज शुरू होने दो, यदि श्रीपतराव आये भी तो उन्हें भी खेल में शरीक कर लेंगे। क्यों ठीक है न ?' और वह ठहाका मार कर जोर से हँस पड़ा। हमने भी हँस कर उसका खुलकर साथ दिया। हास्य की प्रतिध्वनि कमरे में गूँज उठी और हमें लगा कि हमारी खिल्ली उड़ाने की गरज से कोई खिल-खिलाकर हँस पड़ा है।

सिगरेट सुलगा कर हम सब ने उस कमरे को धुएँ से भर दिया। ब्रिज का खेल चल रहा था। हम सब तन्मय हो खेल रहे थे। फिर भी जरा खटका होता कि हममें से प्रत्येक जीने की ओर देखने लग जाता तथा सूखी हँसी हँस कर कहता—'मैं समझा श्रीपतराव आ गये' और फिर खेलने लग जाता। सभी के चेहरों पर एक विचित्र उदासी छा गयी थी। अन्त में—

ब्रिज का दूसरा रबर समाप्त कर तीसरे रबर के लिये साथियों का निर्वाचन हो रहा था कि इसी समय—

तिमंजिले के ठीक उस कमरे में जो बिलकुल हमारे सिर पर था कोई चीज धड़धड़ाती हुई नीचे गिरती सुनाई दी और उसी समय "ओह, आह..." की एक विचित्र दुख से भरी करुण चीत्कार भी हमने सुनी। हम सब अपनी अपनी लकड़ियाँ लेकर झट से उठ कर खड़े हो गये।

हम सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। सब के चेहरे भय से पीले पड़ गये थे। ऊपर जाकर 'क्या है ?' यह देखने को जी तो बहुत चाह रहा था, किन्तु हिम्मत नहीं हो रही थी; क्योंकि उदास तथा भयानक वातावरण ने हमारे मस्तिष्क की शक्ति को दुर्बल बना दिया था। पाँच छः मिनट व्यतीत हो गये। अपनी दुर्बलता पर हमें लज्जा और दुख हो रहा था। हमारी युवावस्था की दोपहरी थी। हमारे जीवन का वह समय था जब कि अपने पराक्रम से पृथ्वी को कम्पायमान

करने की क्षमता होनी आवश्यक है। हम पाँच थे और बस एक ही आवाज ने हमारा रोम-रोम कम्पित कर दिया था।

अन्त में मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा—'चलो हम सब ऊपर चलें और देखें क्या है !'

मेरे कहने पर सब ने सुध में आकर कहा—'हाँ चलो' हम सब ऊपर जाने को ही थे कि—

श्रीपतराव के भूत को हमने देखा।

हमसे दस-बारह हाथ की दूरी पर स्थित उस जीने पर से वह भूत उतर रहा था। सर पर पगड़ी, लम्बा काला कोट, सफेद दुपट्टा, रेशमी किनार की धोती—यही उस भूत की वेश-भूषा थी। लालटेन के धुँधले प्रकाश में हम देख रहे थे। जूते की चर्रमर्र आवाज में वह जीने से उतर रहा था। जीना उतर कर सामने वाले कमरे में वह भूत चला गया। श्रीपतराव की मृत्यु दुखद होने से उनके भूत ने अपना मुख दोनों हाथों से ढँक लिया था। इस कारण उसे हम नहीं देख सके। हम सब के सब थर थर काँप रहे थे। हमारे हाथ के टार्च तथा सिगरेटें छूट कर जमीन पर गिर पड़ीं। हम एक दूसरे के कंधे का आधार लेकर खड़े रहे।

सब से पहले साइन्स का विद्यार्थी नरोत्तम होश में आया। उसने आवेश में कहा—'नहीं नहीं, असम्भव, नितान्त असम्भव ! ऐसा कभी नहीं हो सकता। कभी नहीं हो सकता। मैं साइन्स का विद्यार्थी कभी इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि मरा हुआ मनुष्य फिर दिख सकता है। इस समस्या को हल करने का अब एक ही उपाय है।'

'वह कौन सा उपाय है !'

'मुझे एक शंका हो रही है। मुझे लगता है...।'

साइन्स के विद्यार्थी नरोत्तम का वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही श्रीपतराव का वह भूत उसी द्वार से फिर बाहर आया और मुँह ढँककर जीने की तरफ जाता दिखाई दिया। हम सब फिर पिशाचाकृति की ओर देखने लगे।

इसी समय नरोत्तम एकदम दौड़ा और हम सब अवाक् उसकी ओर देखते रहे। नरोत्तम ने उस पिशाच की गर्दन अपने बलिष्ठ हाथ से पकड़ तथा दूसरे हाथ से पिशाच के मुख पर के दोनों हाथ हटाकर कहा—'कहिये विनोदशंकरजी ! अंत में मैंने तुम्हें पहिचान ही लिया क्यों ?' और वह जोर जोर से हँसने लगा।

श्रीपतराव का पिशाच भी जोर से हँस पड़ा। विनोदशंकरजी ही तो थे। दूसरे ही क्षण हम सब भी खिलखिला कर हँस पड़े।

'शाबास, शाबास !' विनोदशंकरजी ने नरोत्तम की पीठ थपथपा कर कहा—'युवक इसे कहते हैं, हिम्मत इसे कहते हैं। जिस असम्भवनीय बात को हमारा हृदय—उस हृदय में निवास करने वाली बुद्धि अथवा तर्क—नहीं मानता उस रहस्य को इसी प्रकार प्रकाश में लाकर अपने मन का समाधान कर लेना नितान्त आवश्यक है। भाइयो ! मैं भी डरते-डरते जीना उतर रहा था। भय यह था कि आप में से कोई मेरे सिर पर लकड़ी न मार दे। किन्तु युवकों की अलग अलग प्रकार से इसी प्रकार परीक्षा लेना मुझे बहुत प्रिय है। कोई इसे लड़कपन भले ही कहे किन्तु मैं जो कुछ हूँ, वह यह हूँ। जो कुछ पुरातन है उस पर अंधश्रद्धा रखना इस तार्किक युग में उचित नहीं है। आज की नई पीढ़ी इसे समझ चुकी है, अतएव ज्ञान लालसा की उपासना तथा साहस की परीक्षा में आज की उदीयमान नई पीढ़ी सौ फी सदी नम्बरों से पास है यह सार्टीफिकेट देने के लिये मैं प्रतिक्षण तत्पर रहूँगा। शाबास भाइयो शाबास !'

सवेरे चार बजे हम सब 'कस्तूरी' में लौट आये।

दूसरे दिन विनोदशंकरजी ने पचास रुपये हमें देकर कहा कि जिस संस्था को आप चाहें प्रदान कर दें। युवकों की विजय होने की खुशी में उन्होंने एक सिनेमा का शो भी दिखाया।

ज़माना कन्ट्रोल का है !

'कलियुग है, कलियुग !!'—सुनते-सुनते मेरे बाल सफेद होने लगे थे कि एक नया तकिया-कलाम चल पड़ा—'ज़माना कन्ट्रोल का है !' जहाँ जाता हूँ, यही सदा लोगों के मुँह से सुनाई देती है। कंट्राल क्या हो गया, एक बवाल हो गया है; रोजमर्रा की आफत हो गई है ! खुदा जाने, किस आला दिमाग ने कंट्रोल की कल्पना को जन्म दिया ! इतना ज़रूर है कि किसी पर उसकी जोरू का जबर्दस्त कन्ट्रोल रहा होगा, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसके दिमाग से कन्ट्रोल का जन्म हुआ ! आजकल हरबशर कंट्रोल के मारे हैरान और परेशान है। शहर और कस्बों का यह भीषण मर्ज अब तो गाँवों और देहातों में भी फैल गया है, वबाई बीमारी की तरह ! कंट्रोल ने गरीब और मध्यम स्थिति के लोगों के लिए जीना दुश्वार कर दिया है। इन्हीं आफतज़दा लोगों में से ईजानिब भी एक हैं।

उस दिन होली की पूनों थी। त्योहार और तातील के ख्याल से मेरे मुर्दा दिल में भी एक हलकी गुदगुदी पैदा हुई। सबेरे-सबेरे मेरी आँख खुली। लेटे ही लेटे मैंने जोर की अँगड़ाई लेकर आलस्य और फिक्र को एक साथ ही झाड़ दिया और खुशी खुशी बिस्तरे से उठ खड़ा हुआ। देखता क्या हूँ कि सारा मकान धुएँ से आच्छादित हो रहा है। मानो हवाई बममार हाल ही में बमबाजी कर गये हों ! आँखों से गंगा-जमुना बह चलीं। बड़ा ताव आया, श्रीमतीजी की धुआँबाजी पर। कभी धोती के पल्ले से तो कभी कुरते की आस्तीन से आँखें पोंछता हुआ लम्बी-लम्बी डगें भरकर रसोईघर में घुसा। यहाँ धुएँ का प्रभाव किसी साम्राज्यवादी शासन की तरह, बड़ा भयानक था ! आँखें फाड़ फाड़ कर देखा, तब कहीं श्रीमतीजी का सुंदर मुखड़ा काले बादलों में

छिपे हुए चाँद की तरह अस्पष्ट-सा दिखाई पड़ा। चिल्लाकर कहा—'क्या तूफान कर रखा है ? पूनों का अमावस कर दिया है और वह भी दिन में ! शायद तुम्हारा इरादा मुझे सबेरे ही सबेरे रुलाकर होली का त्योहार मनाने का है !' वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और बोलीं—'तुम्हीं क्यों, मैं भी रो रही हूँ, न जाने कब से कन्ट्रोलवालों के नाम पर ! कोयले मिलते नहीं और लकड़ी का यह हाल है ! आग लगे मुए कन्ट्रोल को !' मेरा गुस्सा काफूर हो गया। मैं ही तो लाया था, बिलकुल गीली लकड़ियाँ। बात उड़ाते हुए मैंने कहा—'अजी कंट्रोल में न जाने कब लगेगी आग ! अभी तो चूल्हे में लगने दो अच्छी तरह से, ताकि चाय जल्द पीने को मिले !'

चाय पीते समय श्रीमतीजी ने पूछा कि—'आखिर कोयले गये कहाँ सब। और लकड़ियों की कमी क्यों हो गई है ?' अर्थशास्त्र मैंने पढ़ा नहीं था, न कभी सोचा ही था इस बारे में। लेकिन श्रीमतीजी को मेरी बुद्धिमत्ता पर संदेह न हो, इसलिये चटपट जवाब दे डाला, 'जंग चल रहा है न आजकल ! वहाँ दुश्मनों की जो सेना पकड़ी जाती है, उसके सिपाहियों के मुँह पर कालिख पोतने के लिए कोयले तथा उनकी पीठ की मरम्मत करने के लिये लकड़ियाँ जहाजों में भर-भरकर भेजी जा रही हैं।' इतने में बच्चे जागे और उन्होंने सीधे रसोईघर पर धावा बोल दिया। कुछ मेरे पास आ डटे, कुछ श्रीमतीजी के पास जा बैठे। शक्कर बच्चों को बड़ी प्रिय होती है। दूध में शक्कर ज्यादा डालने के लिए १९४१ का मॉडेल मचल पड़ा। उसकी चीख-पुकार बरदाश्त न हुई, तो मैंने कहा—'डाल क्यों नहीं देतीं एक के बजाय दो चम्मच ?' श्रीमतीजी ने आँख तरेरकर मेरी ओर देखा और तमककर बोलीं—'कहते क्या लगता है तुम्हें ? पूरा महीना निकालना है। नपी-तुली शक्कर लाते हो।'

किसी तरह बीबी ने चाय दी और उसे मैंने बिना शक्कर के ही

गले से नीचे उतारी। अब बीबी की सबेरे ही सबेरे फरमाइशें हुईं, 'आज त्योहार है। घासलेट लाओ, बच्चों के लिए सामान मिठाई लाओ।'

सच कहता हूँ घासलेट की दूकान पर दो-चार घण्टे खड़ा हो ले, तो उसे युद्ध के जुमला सीन्स व मॅनुव्हर्स देखने को मिल जायँ ! अपनी देह को सही-सलामत रखने से भी ज्यादा मुश्किल होता है बोतल का सही-सलामत रखना। उस वक्त दुनिया में बोतल से बढ़कर प्यारी चीज़ और घासलेट से बढ़कर कीमती पदार्थ शायद ही कोई हो। कम से कम मेरे लिए तो नहीं। रास्ते में कोई माँगे, तो मैं पहनी हुई पतलून उतार कर फ़ौरन दे दूँ, लेकिन भरी हुई घासलेट की बोतल हर्गिज न दूँ ! ऐसी नायाब चीज़ को हथिया कर जब मैं घर की ओर लौटा, तो मारे खुशी के मेरे पैर जमीन पर न टिकते थे। घर से निकलते समय मुझे जितनी झेंप व झिझक मालूम हुई थी, उतनी ही ऐंठ और शान घर लौटते समय मुझमें आ गई थी। गर्व से मस्तक ऊँचा किए, सीना फुलाए, विजयी वीर की तरह मैं चला आ रहा था; मानो पाताललोक के असुरों को हराकर अमृत की सुराही छीन लाया था ! घर से जाते समय जिन्होंने मेरी ओर हिकारत की नज़र से देखा था, मेरी खिल्ली उड़ाई थी, वही अब नीची गर्दन किए मेरी बोतल की ओर हसरत भरी निगाह से देख रहे थे मानों मेरे हाथ में सोने की चिड़िया आ गई हो !

चलते-चलते सहसा ख़याल आया चार-छः हार-कंगन, एक दो नारियल तथा एक साड़ी ख़रीदते चलें, वर्ना फिर रास्ता नापना पड़ेगा। हलवाइयों की दूकानों पर दृष्टि दौड़ाई तो मटमैले रंग के छोटे-छोटे हार-कंगन ही दिखाई दिए। एक दूकानदार से पूछा, 'क्योंजी, यही गंदे हार-कंगन हैं तुम्हारे यहाँ या उमदा क़िस्म के भी हैं ?' उसने मेरी ओर इस नाजोअन्दाज से देखा जैसे मैं कोई शिकारपुर का निवासी था। बोला, 'ज़माना कन्ट्रोल का है, जनाब ! दानेदार शक्कर देता कौन है हलवाइयों को ! लेना हो लीजिए, वर्ना रास्ता नापिए।' फिर

वही शक्कर ! मेरा सिर चक्कर खाने लगा, विवश होकर जो थे वही खरीदे और कपड़े की दूकान पर जा खड़ा हुआ। अच्छी-सी महीन पोत की साड़ी दिखाने को कहा तो सेठजी तोंद पर हाथ फेरते हुए पास ही पड़ा हुआ गवर्नमेंट गजट बताकर बोले, 'बाबूजी, आप गजट पढ़ते हैं या नहीं ! भूल जाइए महीन कपड़ों को ! ज़माना कन्ट्रोल का है, कन्ट्रोल का है जनाब !' मन ही मन झल्ला उठा यह सोच कर कि जो सेठजी गजट को कभी छूते नहीं थे वही अब मुझसे 'गजट पढ़ते हो या नहीं ?'—पूछने की धृष्टता कर कह रहे थे, वाहरे ज़माना ! न रहा गया मुझसे और मैं कह ही गया—'सेठजी ! खालिस गजट मँगाने से काम नहीं चलेगा ! मेरे जैसा बाबू रखना होगा दूकान पर तब कहीं कन्ट्रोल-ऑर्डर्स तथा डिफेन्स ऐक्ट का मतलब समझ में आएगा आपके ! वर्ना, किसी 'नीम हकीम ख़तरएजान' की कहावत चरितार्थ हो जायगी और लेने के देने पड़ जाएँगे।' यह फटकार सुनकर सेठजी कुछ नरम हुए और गजगति से उठकर उन्होंने चार छः साड़ियाँ मेरे सामने ला पटकीं। एक पसंद करके छपे हुए दाम सेठजी के हाथ में दिए तो इधर-उधर झाँक कर बोले—'दो रुपए और दीजिएगा। छपी हुई क़ीमत पर साड़ी नहीं मिल सकती।' गरज़ बावली होती है। चुपके से दो रुपए और चुकाकर चल दिया और नारियल की दूकान पर पहुँचा। रेज़गी खत्म हो चुकी थी। इसलिए दो नारियल लेकर एक रुपए का नोट दूकानदार को दिया। वह फँक कर बोला—'पैसे दीजिए पैसे ! आ गए चार गण्डे की चीजें खरीद कर नोट भुनाने। जानते नहीं, ज़माना कन्ट्रोल का है ! रेजगी का कहीं पता नहीं यहाँ से वहाँ तक। लेना हो तो लो, वर्ना रख दो नारियल।' पहन रखी थी दो गण्डे की दुपल्ली टोपी मगर झाड़ रहा था दुलत्ती ! ऐसा गुस्सा आया कमबख्त की सख्तकलामी पर कि एकाध नारियल वहीं उसके सर पर फोड़ दूँ। मगर जब्त कर गया। ज़माना कन्ट्रोल का है ! सुनते-

सुनते गुस्से पर भी कन्ट्रोल करने के लिए मजबूर हो गया! जो कुछ भी हो, मुझे बदर्जे मजबूरी दो के बजाय आठ नारियल खरीदने पड़े।

घर पहुँचने में ज़रूरत से ज्यादा देर हो गई थी। चिराग़ जले नहीं थे। घर में पूरा ब्लैक-आउट था। बच्चे अँधेरे में सियारों की तरह चिल्ला रहे थे। श्रीमतीजी बुरी तरह बिगड़ पड़ीं। साली साहिबा की ओर मुखातिब होकर बकना शुरू कर दिया, 'देखा, तुम्हारे जीजाजी की बेफिक्री! घर में कोई चीज़ मुहैय्या करके नहीं रखते, वर्ना ऐन त्योहार के दिन यह नौबत क्यों आती? घर में अँधेरा देखकर अड़ोसी-पड़ोसी न जाने क्या खयाल कर लेंगे! और यह क्या? इतने सारे नारियल क्यों उठा लाए? दूकान खोलने का इरादा है क्या? अच्छा ये गंदे, सड़ियल हार-कंगन लाए हो बच्चों के लिए? खूब, खूब! इससे तो न लाना ही अच्छा था। कुछ तो सोचा होता कि बारह महीने में एक बार आता है होली का त्योहार। कम से कम हार-कंगन तो अच्छे लाने थे! एँ! यह साड़ी लाए हो? साड़ी है या रंगीन टाट? बचत करने की यही जगह थी, जैसे तुम्हारे दो चार सालियाँ हों। सच कहती हूँ, तुम्हारी तो अकल ही......' अधिक न सुना गया और मैं भागकर बरामदे में आ गया। घर की तरह आँखों में भी अँधेरा छा गया, थकान के बाद लताड़ पाकर। प्रातःकाल ही से होली का त्योहार मेरे लिए बुखार साबित हो रहा था। फिर भी मेरी सारी दौड़धूप, मेहनत, मगज़मारी और जेब खाली होने का तनिक भी ख़याल न किया श्रीमतीजी ने!

जैसे-तैसे शान्ति प्रस्थापित हुई। लालटेन जली। बच्चों की बक-वास बन्द हुई और हार-कंगन बाँधने-बँधाने का सिलसिला जारी हुआ। जब मैंने बच्चों के हाथ में एक-एक रुपये के नोट दिये, तो श्रीमतीजी बरस पड़ीं—'ऐसे शुभ अवसर पर कागज के टुकड़े कोई देता है? मगर तुम रहे निरे···! चाँदी के रुपये लाओ कहीं से ढूँढ़-

कर।' क्या कहता कैसे समझाता उन्हें कि ज़माना कन्ट्रोल का है! जिसकी वजह से चाँदी का रुपया और गांधी-सा महात्मा मुश्किल से मिल पाता है हमारे अभागे देश में! अतः मैंने मौन रहना ही उचित समझा।

खाना खाकर अखबार पढ़ने लगा। मगर श्रीमतीजी ने बिल्ली की तरह झपटकर अंक हाथ से छीन लिया और डपटकर बोलीं—'घर में घासलेट तेल की तंगी और रात को पढ़ने का शौक चर्राया! मुए अखबारों पर क्यों नहीं लग जाता कन्ट्रोल?' सोलह घंटे हो गये थे, उनकी फटकार सुनते-सुनते! मेरा पुरुषत्व बगावत कर बैठा और मैंने गरजकर कहा, 'तुम जानती क्या हो खाक। दुनिया की हर छोटी-बड़ी चीज पर कन्ट्रोल हो गया है, तभी तो रोजमर्रा के ये रोने हैं। अखबार पर भी लग गया है कन्ट्रोल! नहीं लगा तो सिर्फ एक चीज पर और वह है औरतों की जबान! इस पर और लग जाय, तो मुझ जैसे अभागे पुरुष सरकार का तहेदिल से शुक्रिया अदा करें।'

आगे क्या हुआ, पढ़नेवाले खुद सोच सकते हैं। मामला आउट आफ कन्ट्रोल हो गया और लेने के देने पड़ गये! बस, इसी में समझ लीजिए! ज़माना कन्ट्रोल का है!

———